

गांधीमार्ग

गांधीजी □ जीवन नायक □ शुभू पटवा
सुधांशु भूषण मिश्र □ श्रीपद्रे □ कुमार प्रशांत
किशोर पंवार □ सोपान जोशी

आप अभी तैयार नहीं हैं

जुलाई-अगस्त 2012



सृजन स्मरण



जितने प्राकृतिक पदार्थ हैं
उनका तथा उनके गुणों का
निरूपण विस्तार के साथ वेदों में है
पर जिनसे ऐहिक उन्नति
सूचित होती है या
जो उन्नति के साधन हैं
ऐसे शब्द वेदों में नहीं पाए जाते।

पंडित बालकृष्ण भट्ट
(1844-1914)

दिल्ली सरकार
रीज दिल्ली - पब्लिक रिलेशंस

सूचना एवं प्रचार निदेशालय

गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक
वर्ष 54, अंक 4, जुलाई-अगस्त 2012



गांधी शांति प्रतिष्ठान



1. आप अभी तैयार नहीं हैं	गांधीजी	3
2. कुछ लाख रसोइये चाहिए	सोपान जोशी	9
3. घर-घर की प्रवासी कहानी	सुधांशु भूषण मिश्र	20
4. सत्यमेव जयते!	कुमार प्रशांत	27
5. निरोगी काया	शुभू पटवा	33
6. पहाड़ के माथे पर हरा तिलक	श्रीपद्रे	37
7. पुराना चावल: कुर्ते के संग आंख-मिचौनी	जीवन नायक	40
8. पोथी पढ़ि पढ़ि: बिन पत्ती सब सून		51
9. टिप्पणियां		56
10. पत्र		59

वार्षिक शुल्क : भारत में 100 रुपए, दो वर्ष का 190 रुपए, आजीवन-500 रुपए (व्यक्तिगत), 1000 रुपए (संस्थागत) एक प्रति का मूल्य बीस रुपए, डाक खर्च निःशुल्क। दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें। शुल्क बैंक ड्राफ्ट, मनीआर्डर द्वारा 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' के नाम भेजें।

संपादन : अनुपम मिश्र, सज्जा : दिलीप चिंचालकर, प्रबंध : मनोज कुमार झा

गांधी शांति प्रतिष्ठान, 223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-2 के लिए अनुपम मिश्र द्वारा प्रकाशित

फोन : 011-2323 7491, 2323 7493, फैक्स : 011-2323 6734

Email: gmhindi@gmail.com

मुद्रक : अशोक प्रिंटिंग प्रेस, 2810 गली माता वाली, चांदनी चौक, दिल्ली-06, फोन नं.011-23264968

आप अभी तैयार नहीं हैं

गांधीजी

आजादी की लड़ाई में लगे सबसे बड़े संगठन के कार्यकर्ताओं को संबोधित कर रहे हैं गांधीजी। अभी दो-पांच शब्द ही बोले थे कि तालियों की गड़गड़ाहट। पर गांधीजी को यह ठीक नहीं लगा। उन्होंने साफ-साफ कहा: “मुझे आपकी तालियों की गड़गड़ाहट की जरूरत नहीं है। मैं तो आपके हृदय और बुद्धि को जीतना चाहता हूँ।” एक विचित्र किस्म के संग्राम के सेनापति के नाते उन्होंने अपने सैनिकों के आगे अपनी कठोर शर्तें रखीं और कहा कि उन्हें लगता है कि वे अभी इस लड़ाई के लिए तैयार नहीं हैं!

यहां आकर मुझे यह तमाम चर्चा सुनने का अवसर मिला, इसकी मुझे खुशी है। जब मैं देखता हूँ कि हर वक्ता की जुबान पर ‘सविनय अवज्ञा’ शब्द ही था तो मुझे ‘बाइबिल’ की यह उक्ति याद आ जाती है: ‘प्रभु-प्रभु’ की रट लगाने वाले हर व्यक्ति को स्वर्ग के साम्राज्य में प्रवेश नहीं मिलेगा; जो स्वर्ग में विराजमान मेरे पिता (परमेश्वर) की इच्छा के अनुसार आचरण करेगा, केवल उसी को उस साम्राज्य में प्रवेश मिलेगा।’ (हर्षध्वनि) मुझे आपकी तालियों की गड़गड़ाहट की जरूरत नहीं है। मैं तो आपके हृदय और बुद्धि को जीतना चाहता हूँ और तालियों की गड़गड़ाहट और वाहवाही से मेरे उस विजय अभियान में बाधा पड़ती है। सविनय अवज्ञा के नारे लगाने वाले लोग सविनय अवज्ञा शुरू नहीं कर सकते। उसे करने की सामर्थ्य तो केवल उन्हीं में है जो उसके लिए काम करते हैं। सच्ची सविनय अवज्ञा की दृष्टि से ऐसे आंदोलन में भाग लेने वालों के लिए

यह जरूरी है कि उन्हें जो करने का आदेश दिया जाए उसे करें और जो करने का निषेध किया जाए, उसे न करें। सही ढंग से शुरु की गई और सही ढंग से चलाई गई सविनय अवज्ञा का परिणाम निश्चित तौर पर स्वराज्य के रूप में प्रकट होगा।

मुझे लगता है कि आप अभी तैयार नहीं हैं। इसलिए जब मैंने आपको उन वक्ताओं की वाहवाही करते देखा जिन्होंने कहा कि हम तैयार हैं, तो मुझे बड़ा आघात पहुंचा। कारण, मैं जानता हूँ कि हम तैयार नहीं हैं। यह सच है कि हम सब यह जानते और महसूस करते हैं कि हम अपने ही देश में गुलाम बनकर रह रहे हैं। हम यह भी महसूस करते हैं कि

मुझे आपकी तालियों की गड़गड़ाहट की जरूरत नहीं है। मैं तो आपके हृदय और बुद्धि को जीतना चाहता हूँ और तालियों की गड़गड़ाहट और वाहवाही से मेरे उस विजय अभियान में बाधा पड़ती है। सविनय अवज्ञा के नारे लगाने वाले लोग सविनय अवज्ञा शुरु नहीं कर सकते। उसे करने की सामर्थ्य तो केवल उन्हीं में है जो उसके लिए काम करते हैं।

स्वतंत्रता हमारे लिए आवश्यक है। फिर, हम यह भी महसूस करते हैं स्वतंत्रता के लिए हमें लड़ना पड़ेगा। तत्काल सविनय अवज्ञा आरंभ करने की मांग करने वाले वक्ताओं को वाहवाही देने में मैं भी शरीक हो सकता हूँ। एक चोर मेरे घर घुस आया है और उसने मुझे अपने ही घर से बाहर निकाल दिया है। मुझे उससे लड़कर अपना घर वापस लेना है, लेकिन वैसा करने से पहले मुझे उसके लिए पूरी तरह तैयार हो जाना चाहिए। (हर्षध्वनि) आपकी तालियों से केवल यही प्रकट होता है कि इस तैयारी का मतलब क्या है, यह आप नहीं समझते। आपके सेनापति को लग रहा है कि आप तैयार नहीं हैं, आप सच्चे सिपाही नहीं हैं और अगर हम आपके बताए रास्ते पर बढ़ें तो निश्चय ही हमारी हार होगी। और यह जानते

हुए मैं आपसे लड़ने को कैसे कह सकता हूँ? मैं जानता हूँ कि आपके जैसे सिपाहियों को लेकर लड़ूँ तो मेरी पराजय होगी।

मुझे यह साफ कर देना चाहिए कि मैं ऐसा-कुछ नहीं करने वाला हूँ, जिसके लिए मुझे बाद में पछताना पड़े। इतने वर्षों से किसी भी संघर्ष में मैंने पराजय स्वीकार नहीं की है। कुछ लोग राजकोट का उदाहरण सामने रख सकते हैं, लेकिन मैं मानता हूँ कि मेरे लिए वह पराजय नहीं थी। यह बात तो भावी इतिहास ही बताएगा। मेरे कोश में 'पराजय' शब्द नहीं है, और मेरी सेना में भरती किया जाने वाला हर आदमी इस बात के लिए आश्वस्त रहे कि सत्याग्रही कभी पराजित नहीं होता।

मैं आपको भरोसा दिलाता हूँ और सार्वजनिक रूप से यह घोषणा करता हूँ कि जब आप तैयार होंगे, मैं आगे बढ़ चलूंगा और तब हमारी विजय होगी— इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है। यही बात मैंने विषय-समिति में कही थी और उसी को यहां फिर दोहराता हूँ। अपने दिल और दिमाग को शुद्ध कीजिए। यहां उपस्थित कुछ लोग जोर देकर कहते रहे हैं कि संघर्ष आरंभ करने के लिए चरखे पर ध्यान केंद्रित करना जरूरी नहीं है। मैं उन लोगों की ईमानदारी और बहादुरी पर शक नहीं करता। लेकिन, जैसा कि पंडित जवाहरलाल नेहरू ने आपको बताया है, उनकी बात से उनके मन की कुछ कमजोरी प्रकट होती है। खैर, जो बात मैं पिछले 20 वर्षों से कहता आया हूँ वही आपसे फिर कहता हूँ— सत्याग्रह और चरखे में गहरा आपसी संबंध है, और मेरी इस मान्यता को लोग जितनी ज्यादा चुनौती देते हैं, उसमें मेरी आस्था उत्तनी ही अधिक दृढ़ होती जाती है। यह बात न होती तो मैं ऐसा मूर्ख नहीं हूँ कि दिन रात, यहां तक कि रेलगाड़ी में भी और डॉक्टरों की सलाह के खिलाफ भी चरखा चलाता रहूँ। डॉक्टर तो चाहते हैं कि मैं चरखा चलाना छोड़ दूँ। लेकिन मैं इस पर अधिक ध्यान इसलिए दे रहा हूँ कि मुझे अपने-आपको तैयार करना है। मैं चाहता हूँ कि आप भी इसी आस्था से चरखा चलाएं। और यदि आप ऐसा नहीं करते और नियमपूर्वक खादी नहीं पहनते तो आप मुझे धोखा देंगे। सारी दुनिया को धोखा देंगे। जो चरखे में विश्वास नहीं करता वह मेरी सेना का सिपाही नहीं बन सकता।

मेरे लिए तो अहिंसा के अलावा कोई और रास्ता ही नहीं है। मेरी मृत्यु के समय भी मेरे अधरों पर अहिंसा का ही नाम होगा, इसमें कोई शक नहीं है। लेकिन आप मेरी तरह इससे प्रतिबद्ध नहीं हैं, और इसलिए आपको कोई दूसरा कार्यक्रम अपनाकर देश को स्वतंत्र करने की पूरी छूट है। लेकिन अगर आप न तो यह करना चाहें और न चरखा चलाएं और यह इच्छा करें कि मैं लड़ाई आरंभ कर दूँ तो यह तो बड़ी कठिन बात होगी। अगर आपको लगता हो कि आपको लड़ना है और अभी तुरंत लड़ना है और यदि आपको यह विश्वास हो कि उस लड़ाई को जीतने का कोई और रास्ता भी है तो मैं आपसे कहूंगा कि आप आगे बढ़िए

इस तैयारी का मतलब क्या है, यह आप नहीं समझते। आपके सेनापति को लग रहा है कि आप तैयार नहीं हैं, आप सच्चे सिपाही नहीं हैं और अगर हम आपके बताए रास्ते पर बढ़े तो निश्चय ही हमारी हार होगी। और यह जानते हुए मैं आपसे लड़ने को कैसे कह सकता हूँ? मैं जानता हूँ कि आपके जैसे सिपाहियों को लेकर लड़ूँ तो मेरी पराजय होगी।

और अगर आप विजयी हुए तो आपको शाबाशी देने वालों में मैं सबसे आगे रहूंगा। लेकिन अगर आप मुझे छोड़ना नहीं चाहते और साथ ही मेरे रास्ते पर चलना और मेरे निर्देशों का पालन करना भी नहीं चाहते तो फिर मैं जानना चाहूंगा कि आप मुझसे किस तरह का सेनापति बनने की अपेक्षा रखते हैं।

जो लोग यह रट लगाए हैं कि सविनय अवज्ञा अविलंब आरंभ की जाए वे चाहते हैं कि मैं उनका साथ दूं। क्यों? इसलिए कि वे जानते हैं कि जन साधारण मेरे साथ है। मैं निस्संकोच कहता हूँ कि मैं आम जनता का आदमी हूँ। हर क्षण

आपको लगता हो कि आपको लड़ना है और अभी तुरंत लड़ना है और यदि आपको यह विश्वास हो कि उस लड़ाई को जीतने का कोई और रास्ता भी है तो मैं आपसे कहूंगा कि आप आगे बढ़िए और अगर आप विजयी हुए तो आपको शाबाशी देने वालों में मैं सबसे आगे रहूंगा। लेकिन अगर आप मुझे छोड़ना नहीं चाहते और साथ ही मेरे रास्ते पर चलना और मेरे निर्देशों का पालन करना भी नहीं चाहते तो फिर मैं जानना चाहूंगा कि आप मुझसे किस तरह का सेनापति बनने की अपेक्षा रखते हैं।

मैं करोड़ों भूखे लोगों के लिए दुख का अनुभव करता हूँ। उनके कष्ट दूर करने और उनकी तकलीफों को कम करने के लिए ही मैं जिंदा हूँ और इसी के लिए मैं अपने प्राण भी दे देने को तैयार हूँ। मैं दावा करता हूँ कि उन करोड़ों लोगों पर मेरा कुछ प्रभाव है, क्योंकि मैं उनका निष्ठावान सेवक रहा हूँ। मैं सबसे अधिक वफादार उन्हीं के प्रति हूँ, और आप मेरा साथ छोड़ दें या मुझे मार डालें तब भी अगर मैं चरखे को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हूँ तो उन्हीं की खातिर हूँ। कारण मैं जानता हूँ कि अगर मैं चरखा-संबंधी शर्त में ढील दे दूँ तो उन करोड़ों मूक लोगों के विनाश का सामान जुटा दूंगा, जिनके लिए मुझे ईश्वर के दरबार में जवाब देना होगा। इसलिए अगर आप उस अर्थ में चरखे में विश्वास नहीं करते जिस अर्थ में कि मैं करता हूँ तो आपसे मेरा निवेदन है कि आप मुझे छोड़ दें। आप मुझ पर पत्थर बरसाएं और मुझे मार डालें तब भी मैं जन साधारण के लिए काम करने की अपनी लगन नहीं छोड़ूंगा। यह है मेरा रास्ता। अगर आप समझते हों कि कोई और रास्ता भी है तो मुझे अकेला छोड़ दें।

स्वतंत्रता की लड़ाई में चरखे के बिना मैं आपको जेल जाने का आदेश नहीं दे सकता। मैं ऐसे किसी आदमी को अपनी सेना में नहीं लूंगा जो चरखे में विश्वास नहीं करता। मैं तभी आगे बढ़ूंगा जब मुझे भरोसा हो जाएगा कि चरखे में आपकी आस्था है, आपका विश्वास है। याद रखिए कि अगर यहां एकत्र हम

लोग कोई भूल करेंगे तो उससे करोड़ों मूक लोगों पर कष्टों का तूफान फट पड़ेगा। कांग्रेस प्रतिनिधियों की जिम्मेदारी बहुत बड़ी है, और आपको आने वाली विपत्ति से सावधान करना है। इसलिए मुझे तो बहुत सावधानी से आगे बढ़ना है।

बहुत-से वक्ताओं ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की बुराइयों पर अपने विचार व्यक्त किए। उस बात की मैं और चर्चा नहीं करना चाहता। इतना ही कहूंगा कि हमें उससे छुटकारा पाना है। मैंने आपको इसका गुर बता दिया है। मैं सत्याग्रह तभी आरंभ करूंगा जब मुझे पूरा विश्वास हो जाएगा कि आपने मेरे उपचार को समझ लिया है।

अगर आप किसी डॉक्टर की दवा उसकी हिदायतों के अनुसार लेने को तैयार नहीं हैं तो उससे कोई दवा बताने को कहना बेकार है। ऐसी बात हो तो मैं तो यही कहूंगा कि आप अपने रोग के इलाज के लिए कोई और डॉक्टर ढूँढ़ लें। आज आपने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ जितने भाषण सुने हैं, वे सब आपको उससे छुटकारा पाने में मदद नहीं देंगे। उनसे सिर्फ आपका क्रोध ही भड़केगा। इससे समस्या हल नहीं होगी। क्रोध सत्याग्रह के प्रतिकूल है। ब्रिटेन के लोगों से हमारा कोई झगड़ा नहीं है। हम उनके मित्र बनाना चाहते हैं और अपने प्रति उनकी सद्भावना कायम रखना चाहते हैं— लेकिन उनकी प्रभुता के आधार पर नहीं, बल्कि स्वतंत्र और समान दर्जे का उपभोग करने वाले भारत की बुनियाद पर।

स्वतंत्र देश के रूप में भारत किसी के प्रति विद्वेष नहीं रखेगा और न किसी अन्य देश को अपना गुलाम बनाना चाहेगा। हम शेष संसार के साथ कदम मिलाकर आगे बढ़ेंगे— ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हम संसार से यह आशा रखेंगे कि वह हमारे साथ कदम मिलाकर चले। इसलिए याद रखिए कि आपको बाहरी और आंतरिक दोनों शर्तें पूरी करनी हैं। अगर आप आंतरिक शर्तें पूरी करेंगे तो फिर अपने विरोधी से घृणा करना छोड़ देंगे। आप उसका विनाश नहीं चाहेंगे और उसके विनाश का प्रयत्न नहीं करेंगे, बल्कि ईश्वर से प्रार्थना करेंगे कि वह उस पर दया करे। इसलिए सरकार के कुकृत्य का वर्णन करते रहने में अपनी शक्ति न लगाएं, क्योंकि हमें उसका संचालन करने वालों का हृदय-परिवर्तन करके उनकी मित्रता प्राप्त करनी है। और फिर कोई स्वभाव से तो बुरा नहीं होता। और अगर दूसरे बुरे हैं तो क्या हम कुछ कम बुरे हैं? यह दृष्टिकोण

अगर आप किसी डॉक्टर की दवा उसकी हिदायतों के अनुसार लेने को तैयार नहीं हैं तो उससे कोई दवा बताने को कहना बेकार है। ऐसी बात हो तो मैं तो यही कहूंगा कि आप अपने रोग के इलाज के लिए कोई और डॉक्टर ढूँढ़ लें।

सत्याग्रह का सहज गुण है और मैं तो कहूंगा कि यह भी एक ऐसी चीज है जिसको आप नहीं मानते तो मुझे मुक्त कर दीजिए। कारण, मेरे कार्यक्रम में विश्वास रखे बिना और मेरी शर्तों को स्वीकार किए बिना अगर आप मेरे साथ होंगे तो आप मुझे, स्वयं अपने को और हमारे उद्देश्य को भी नष्ट कर देंगे।

सत्याग्रह हर कीमत पर सत्य पर दृढ़ रहने का मार्ग है। और आप इस मार्ग का अनुसरण करने को तैयार न हों तो मुझे अकेला छोड़ दीजिए। आप भले ही मुझे निकम्मा कहें, मैं उसका बुरा नहीं मानूंगा।

सत्याग्रह हर कीमत पर सत्य पर दृढ़ रहने का मार्ग है। और आप इस मार्ग का अनुसरण करने को तैयार न हों तो मुझे अकेला छोड़ दीजिए। आप भले ही मुझे निकम्मा कहें, मैं उसका बुरा नहीं मानूंगा। अगर यह बात मैं आपके सामने अभी और यहीं स्पष्ट न कर दूं तो मैं बरबाद हो जाऊंगा और मेरे साथ यह देश भी बरबाद हो जाएगा। सत्य और अहिंसा सत्याग्रह के मूल तत्व हैं और चरखा उनका प्रतीक है। जिस प्रकार किसी सेना का सेनापति इस बात का आग्रह रखता है कि उसके सिपाही एक खास किस्म की ही पोशाक पहनें, उसी प्रकार आपके सेनापति की हैसियत से मुझे इस बात का आग्रह रखना है कि आप चरखे को अपनाएं और वही आपकी पोशाक होगी। सत्य, अहिंसा और चरखे में पूरी आस्था रखे बिना आप मेरे सिपाही नहीं बन सकते। और मैं एक बार फिर कहता हूँ कि अगर इसमें आपका विश्वास न हो तो मुझे अकेला छोड़ दीजिए और अपने तरीकों को आजमाकर देखिए।

20 मार्च 1940 को रामगढ़ में कांग्रेस के अधिवेशन में दिया गया भाषण।
गांधीजी बोले हिन्दी में ही थे, पर उनके इस भाषण का कोई ठीक प्रामाणिक हिन्दी विवरण नहीं मिलता। इसलिए यह अंश संपूर्ण गांधी वांगमय में अंग्रेजी विवरण से अनूदित है।



कुछ लाख रसोइये चाहिए

सोपान जोशी

सौंदर्य केवल लघु होने से नहीं आता। लघुता का पाठ पढ़ाने वाले हमारे पर्यावरण वाले भूल जाते हैं कि प्रकृति लघु नहीं, अति सूक्ष्म रचना भी करती है और विशालकाय जीव भी बनाती है। छोटे-बड़े का यह संबंध भुला देना मनुष्य जाति की आफत बन गई है। दुनिया के जाने-माने जीवविज्ञानी विक्टर स्मेटाचैक इस संबंध के रहस्य को और हमारी परंपराओं को ज्ञान और साधना से जोड़ते हैं। वे विज्ञान और अहिंसा, भोजन और भजन की एक नई परिभाषा, हमारे नए जमाने के लिए गढ़ते हुए एक आश्चर्यजनक मांग कर रहे हैं: कुछ लाख रसोइये ले आओ जरा!

कोई 15,000 साल पहले तक धरती पर बहुत बड़े स्तनपायी पशुओं की भरमार थी। इनके अवशेषों से पता चलता है कि इनमें से ज्यादातर शाकाहारी थे और आकार में आज के पशुओं से बहुत बड़े थे। उत्तरी अमेरिका और यूरोप-एशिया के उत्तर में सूंड वाले चार प्रकार के भीमकाय जानवर थे, इतने बड़े कि उनके आगे आज के हाथी बौने ही लगेंगे। वैज्ञानिकों ने इनको मैमथ और मास्टोडोन जैसे नाम दिए हैं। फिर घने बाल वाले गैंडे थे, जो आज के गैंडों से बहुत बड़े थे। ऐसे विशाल ऊंट थे जो अमेरिका में विचरते थे और साईबीरिया के रास्ते अभी एशिया तक नहीं पहुंचे थे। आज के हिरणों, भैंसों और घोड़ों से कहीं बड़े हिरण, भैंसे और घोड़े पूरे उत्तरी गोलार्द्ध में घूमते पाए जाते थे, चीन और साईबीरिया से लेकर यूरोप और अमेरिका तक।

कुछ बड़े मांसाहारी प्राणी भी थे। चीते थे, आज के सिंह से तिगुने बड़े सिंह थे। पैने कृपाण जैसे दांतों वाला स्माईलोडॉन था, आज के बाघ से भी कहीं बड़ा और खूंखार बिल्लीनुमा प्राणी। अमेरिका, खासकर उत्तर अमेरिकी महाद्वीप में

दानवाकार भालू थे, उस पोलर भालू से कहीं बड़े जिसे आज की दुनिया का सबसे बड़ा मांसाहारी पशु माना गया है। कई और विशाल भालू अमेरिका के दोनों महाद्वीपों पर मस्ती से झूमते विचरते थे।

थोड़ा नीचे उतरें। आस्ट्रेलिया की जलवायु एकदम भिन्न रही है। वहां के वनस्पति और पशु भी निराले रहे हैं, जिनमें सबसे खास हैं अपने शिशु को एक थैली में रखकर पालने वाले धानी स्तनपायी, जैसे कंगारू। जिस काल की हम बात कर रहे हैं उसमें कई वृहत्काय धानी समृद्धि में जीते थे। धानी गैंडा और सिंह, कई तरह के भीमकाय कंगारू, कई तरह के विशाल सरिसृप, आज के इमू के ही आकार के कई तरह के पक्षी, विशाल डैने फैलाए घूमते हुए।

पृथ्वी पर जीवन खिला हुआ था। हरियाली इतनी थी कि शाकाहारी प्राणियों के पास भोजन की कोई कमी नहीं थी। कच्चा शाकाहारी भोजन पचाने के लिए बहुत बड़े और कई उदर चाहिए, इसलिए शाकाहारी पशु बड़े होते चले गए। उनको खाने वाले मांसाहारी भी आकार में बड़े और प्रकार में विविध होते गए। आज भी सबसे बड़े पशु शाकाहारी ही होते हैं।

लाखों, करोड़ों साल के क्रम विकास से पनपे ये असंख्य प्रकार के विशाल प्राणी अचानक कोई तीन हजार साल में विलुप्त हो गए। ऐसे ही। आस्ट्रेलिया में ये घटना थोड़ा पहले ही घट गई थी। शाकाहारी हों या मांसाहारी, इन जानवरों का विकास वहां के पेड़-पौधों के साथ हुआ था और दोनों में आपसदारी का संबंध था। फिर इन पशुओं के मिटने के बाद वनस्पति बेतहाशा बढ़ने लगी और जंगलों में भयानक आग लगने लगी। ऐसा माना जाता है कि इसी दावानल ने ही आस्ट्रेलियाई महाद्वीप को रेगिस्तान बना दिया था। फिर इन बड़े स्तनपायी पशुओं की विविध जातियां केवल अफ्रीका और दक्षिण एशिया (भारतीय उपमहाद्वीप) में सिमट गईं। और थोड़ी-बहुत दक्षिण-पूर्वी एशिया में।

ऐसा कैसे हुआ? इतने प्राणियों का इतने दूर-दूर के इलाकों में सफाया कैसे हुआ? विज्ञान इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगा सका है अब तक। लेकिन दो ही आशंकाएं दिखती हैं। पहला अनुमान तो है कि इस दौरान जलवायु में बहुत तेजी से बदलाव हुआ, इतना तेजी से कि ये विशाल जानवर इसके अनुसार अपने आपको ढाल नहीं पाए। इस परिवर्तन से वातावरण गर्म होने लगा। हिमनद और हिमखंड पिघलने लगे। इसलिए ठंडे वातावरण के आदि स्तनपायी बहुत जल्दी से मिट गए। उनकी मोटी चमड़ी और घने बालों ने गर्मी में उनका जीना दूभर कर दिया और लू खा-खा कर उन्होंने दम तोड़ दिया। इससे ये अंदाजा लगाया जा सकता है कि ऊष्णकटिबंध में रहने वाले बड़े जानवर क्यों नहीं मिटे: उन्हें गर्मी में रहने की आदत जो थी।

अगर ऐसा ही हुआ था तो हमारे कार्बन गैसों के उत्सर्जन से जलवायु में जो परिवर्तन और गर्मी आज तेजी से बढ़ रही है, उससे हमारा क्या होगा इसका भी कुछ अंदाजा लगाया जा सकता है।

लेकिन केवल जलवायु परिवर्तन से ही इतना कुछ हुआ होगा इसके सबूत पर्याप्त नहीं हैं। धरती पर पहले भी इस तरह के परिवर्तन आ चुके थे और इन विशाल प्राणियों के पूर्वज उसके बावजूद बच गए थे। इसमें और भी कई जटिलताएं हैं। इसलिए केवल जलवायु परिवर्तन ही प्राणी जगत पर आई प्रलय का कारण नहीं माना जा सकता। अलग-अलग महाद्वीप पर बड़े स्तनपायियों का मिटना समय में थोड़ा अलग है। जैसे आस्ट्रेलिया में ये पहले हुआ, अमेरिका में थोड़ा बाद में।

ये सब होने के पहले कुछ और भी हुआ। अफ्रीका से निकला एक प्राणी इस समय दुनिया भर में फैल रहा था। चूंकि बहुत-सा पानी हिमनदों और हिमखंडों में जमा हुआ था इसलिए समुद्र में पानी का स्तर आज की तुलना में कोई 400 फुट नीचे था और महाद्वीपों के बीच कई संकरे जमीनी रास्ते थे जो आज डूब गए हैं। जैसे भारत से आस्ट्रेलिया तक के द्वीप एक दूसरे से जुड़े थे, भारत से लंका तक एक सेतु था। पूर्वी साईबीरिया की जमीन उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी किनारे के अलास्का से जुड़ी हुई थी बेरिंग सेतु से। इसलिए यहां के प्राणी वहां तक जा सकते थे। जैसे ये नया प्राणी गया।

इसका विकास अफ्रीका में कोई दो लाख साल पहले हुआ था। अगले पचास हजार साल में ये पूरे अफ्रीका में फैल गया था। कोई 70,000 साल पहले यह प्राणी अफ्रीका से एशिया और यूरोप में फैला। वहां जल्द ही बड़े स्तनपायी मिटने लगे। फिर जमीनी रास्तों से अन्य महाद्वीपों की तरफ बढ़ा। दक्षिण-पूर्वी एशिया से होते हुए ये कोई 50,000 साल पहले आस्ट्रेलिया पहुंचा और उसके ठीक बाद ही वहां के बड़े-बड़े पशु गायब होने लगे। फिर आज से कोई 15,000 साल पहले वह साईबीरिया से उत्तर अमेरिका पहुंचा और जल्दी ही अमेरिका के बड़े स्तनपायी पशु एक के बाद एक मिटने लगे। जहां कहीं भी ये नया प्राणी

समुद्र में पानी का स्तर आज की तुलना में कोई 400 फुट नीचे था और महाद्वीपों के बीच कई संकरे जमीनी रास्ते थे जो आज डूब गए हैं। जैसे भारत से आस्ट्रेलिया तक के द्वीप एक दूसरे से जुड़े थे, भारत से लंका तक एक सेतु था। पूर्वी साईबीरिया की जमीन उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी किनारे के अलास्का से जुड़ी हुई थी बेरिंग सेतु से। इसलिए यहां के प्राणी वहां तक जा सकते थे। जैसे ये नया प्राणी गया।

पहुंचा वहां के बड़े से बड़े पशु देखते-देखते गायब होने लगे। इसी से वैज्ञानिकों को बड़े स्तनपायी पशुओं के गायब होने के एक और कारण का अंदाजा लगता है। उन्हें कई प्रमाण मिल रहे हैं कि शायद इस नए प्राणी ने अपने खाने के लिए दूसरे सभी बड़े पशुओं का शिकार किया, और इतना किया कि उनमें से ज्यादातर विलुप्त हो गए।

यह नया प्राणी आकार में कोई बहुत बड़ा नहीं था, उसके शरीर में शक्ति भी बहुत साधारण ही थी, उसके पास न तो पैने दांत थे, न नुकीले नाखून ही। पर यह प्राणी झुंड में रहता था और मिल-जुलकर शिकार करता था। सबसे असाधारण था उसका दौड़ने का सरल और न थकाने वाला तरीका। दो पैर पर चलने वाले इस प्राणी का क्रम विकास बहुत दूर तक लगातार दौड़ने वाले जीव की तरह हुआ था और इसके दोनों हाथ औजार बनाने के लिए आजाद थे। उंगलियों के दूसरी तरफ पहुंचने वाले इसके जैसे अंगूठे प्रकृति में इसके पहले कभी देखे नहीं गए थे। और इनसे ये कई तरह के औजार बना सकता था जो और बड़े जानवरों के दांत और नाखूनों से ज्यादा धारदार और कठोर होते थे। यह सर्वाहारी था इसलिए शिकार न मिलने पर शाकाहार से भी मजे में गुजर बसर कर लेता था।

अगर औजारों से बड़े जानवरों का शिकार न कर पाए तो यह उनको दौड़ा-दौड़ा कर, थका कर मार सकता था। बहुत तेज नहीं दौड़ सकता था पर इतनी दूर तक लगातार दौड़ने वाला प्राणी धरती पर शायद ही और कोई रहा हो। इसका माथा बहुत चौड़ा था, जिससे इसमें अभूतपूर्व बुद्धिमत्ता थी। इसकी बदौलत ये बहुत जटिल किस्म के संदेश आपस में बांट सकता था और तरह-तरह की जानकारी याद करके अपने शिशु को समझा सकता था। इतनी जटिल भाषा किसी और प्राणी के लिए सीखना असंभव रहा है। जो याद करता उससे वह अपनी गुफाओं की दीवारों पर चित्र खींचता। जल्दी ही उसने आग को संजोना सीख लिया। अब वह अपना भोजन पकाकर सुपाच्य और कहीं ज्यादा पौष्टिक बना लेता था।

जब शिकार के लिए जानवर कम होने लगे तो उसने खेती करके अनाज और कई तरह के खाद्य पदार्थ उगाना शुरू कर दिया। कई तरह के पशुओं को अब पालतू बनाकर उनकी शक्ति का उपयोग वह परिवहन और खेती में करने लगा। उसकी आबादी बढ़ने लगी, उसकी बस्तियां फैलने लगीं। बस्तियों और छोटे गांवों के बाद कोई दस हजार साल पहले वो बड़े शहर भी बनाने लगा। नाव बनाकर समुद्र में दूर-दूर तक जाने लगा, वहां भी जहां उसके शरीर से पहुंचने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। फिर उसने हवा में उड़ने वाले जहाज बनाए। समुद्र में गहरी जाने वाली

पनडुब्बी बनाई और अंतरिक्ष में जाने वाले यान भी। वह आज धरती पर सबसे कामयाब स्तनपायी बन गया है।

उसकी संतति हैं हम सब।

अब तक ये तो सिद्ध हो चुका है कि कई बड़े-बड़े द्वीपों से विशाल जानवर मनुष्य ने ही शिकार कर के मिटाए हैं। लेकिन वैज्ञानिकों को ये मानने में कठिनाई हो रही है कि आकार और शक्ति में मामूली होने के बावजूद भला इस मनुष्य ने पूरे के पूरे महाद्वीपों से विशालकाय पशुओं को कैसे खा मारा। अभी इसके प्रमाण पूरे नहीं मिले हैं। लेकिन कई वैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्य की मिल-जुल कर काम करने की काबिलीयत उसे किसी बहुत शक्तिशाली पशु से ज्यादा बलवान बना देती है।

श्री विक्टर स्मैटाचेक ये बखूबी समझते हैं। उनका जन्म सन् 1946 में उत्तराखंड के भीमताल में हुआ था। उनके पिता दूसरे विश्वयुद्ध के मारे भटकते हुए कलकत्ते आ पहुंचे थे। नागरिकता और मन से भारतीय होकर वे भीमताल में बस गए थे। घर के चारों तरफ जंगल था, वन्य वनस्पति थे, प्राणी थे। उनके संबंधों की लीला, जिसमें प्रतिस्पर्धा भी है और आपसदारी भी, विक्टर की सहज दुनिया थी। उन्हें इस दुनिया से खूब राग था, उनके स्कूल के मित्रों से भी ज्यादा।

यह संबंध सीधा था, इसमें किसी तरह का आदर्शवाद या कोई विचारधारा नहीं थी। उनके पिता अपने परिवार के भोजन के लिए कभी-कभी शिकार भी करने जाते थे। बालक विक्टर के आग्रह पर पिता ने उन्हें अपनी बंदूक इस्तेमाल करने को भी दे दी थी। पर एक वायदे के साथ: बिना जरूरत कभी शौकिया शिकार नहीं करना और बंदूक कभी भी किसी मनुष्य की ओर नहीं तानना, फिर चाहे बंदूक में गोली हो या नहीं। पिता को दिया वचन श्री विक्टर ने कभी नहीं भुलाया। वे जल्दी ही बंदूक के इस्तेमाल में पारंगत हो गए। इतने कुशल कि अगर आस-पड़ोस के गांवों में कभी कोई वन्य प्राणी हिंसक हो जाता तो उन्हें मदद के लिए बुलाया जाता था।

एक बार बगल के गांव के लोग उनसे मदद मांगने आए। वे परेशान थे एक पगलाए हाथी से जो खेती का नुकसान तो करता ही था, पर फिर उसने कुछ लोगों को जान से भी मार डाला था। कुछ समय पीछा कर-करा के उन्होंने एक हाथी को मार गिराया, पर बाद में पता चला कि यह तो आततायी हाथी नहीं था। इसी दौरान श्री विक्टर ने पहली बार हाथियों का व्यवहार करीब से समझा। आखिर किसी भी कुशल शिकारी को पशुओं का व्यवहार ध्यान से समझना होता है। उन्हें दिखा कि धरती पर चलने वाला सबसे बड़ा प्राणी जितना खाता नहीं, उससे कहीं ज्यादा वनस्पति जड़-मूल उखाड़ देता है। उन्हें समझ नहीं आया कि

हाथी इतना उत्पात क्यों मचाते हैं, इतना विध्वंस क्यों करते हैं। और हमारी यह प्रकृति हाथी का यह उत्पात सहन ही क्यों करती है।

इसे समझने में उन्हें थोड़ा समय लगा। एक छात्रवृत्ति उन्हें जर्मनी ले गई। वहां वे जीवविज्ञान पढ़ने लगे और फिर पढ़ाने भी लगे। उन्हें पता चला कि हाथी को प्रकृति ने इतना बड़ा क्यों होने दिया, और क्यों वो इतनी तोड़फोड़ करता है। हाथी का भोजन बहुत विविध रहता है और उसे कई तरह के पेड़ पौधे और घास प्रिय हैं। लेकिन जंगल का स्वभाव ऐसा होता है कि अगर एक तरह का पेड़ एक इलाके में जम जाए तो फिर दूसरे पेड़ पौधे पनप नहीं पाते। इससे जंगल एकरस हो जाता है और बहुत घना भी। घने जंगल में हाथी का घूमना कठिन होता है।

इसलिए हाथी जंगल को कतई एकरस नहीं होने देता, किसी एक वनस्पति का वर्चस्व नहीं जमने देता। ठीक किसी माली की तरह।

श्री विक्टर धीरे-धीरे समझ गए थे कि हाथी का स्वभाव और आकार कैसे बना है। क्योंकि पेड़ बड़े होते हैं और उनके जंगल विशाल इसलिए उनका माली भी बहुत बड़ा ही चाहिए। प्रकृति को हाथी का विध्वंस प्रिय है क्योंकि जहां हाथी रहते हैं वहां तरह-तरह के वनस्पति उपज सकते हैं। कई तरह की घास और झाड़ फानूस, कई छोटी-बड़ी जड़ी-बूटियां। इनके सहारे कई तरह के जीव और प्राणी भी जीते हैं। घास के इलाके में

हमें कतई भूलना नहीं चाहिए कि हमारे पुरखे भी हाथी के राज में, उसकी माली जैसी सूंड के नीचे अफ्रीका के जंगलों में पनपे थे और फिर दुनिया भर में फैल गए थे। हाथी जंगल का माली ही नहीं, प्रशासक और राजा भी रहा है। आज भी है।

हिरण, घोड़े, जेब्रा, गाय, भैंस जैसे कई बड़े जानवर और इनका शिकार करने वाले कई मांसाहारी जानवर भी पनपते हैं, जैसे बाघ, सिंह, तेंदुआ, भेड़िया इत्यादि। श्री विक्टर को समझ में आने लगा था कि हाथी के आकार और इस विध्वंस में प्रकृति की लीला ही है जो सूक्ष्म तो पैदा करती ही है, विशालाकार को भी सुंदर और गूढ़ रहस्य से भर देती है।

हमें कतई भूलना नहीं चाहिए कि हमारे पुरखे भी हाथी के राज में, उसकी माली जैसी सूंड के नीचे अफ्रीका के जंगलों में पनपे थे और फिर दुनिया भर में फैल गए थे। हाथी जंगल का माली ही नहीं, प्रशासक और राजा भी रहा है। आज भी है।

इस सबक से विक्टर के जीवन की दिशा तय हुई, लेकिन कई साल बाद और जमीन से कई हजार मील दूर अंटार्कटिका के समुद्र में। जब अध्ययन में किसी विशेषता को चुनने की बारी आई तो उन्होंने समुद्री प्लैंकटन पर शोध करना

तय किया। ये सन् 1970 के आस-पास की बात है। दुनिया भर जानती थी भारत में अनाज की तंगी के बारे में। तब कहा जाता था कि भविष्य का भोजन समुद्र से ही आएगा। समुद्र का जीवन सबसे सूक्ष्म जीवों से चलता है, शैवाल और प्लवकों से। इन्हें अंग्रेजी में एलगी और प्लैंकटन कहते हैं। ये वनस्पति भी हैं और जीव रूप में भी।

चाहे वो आज तक का सबसे बड़ा प्राणी नीली व्हेल हो, सौ फुट लंबी और दो सौ टन वजनी या हो व्हेल शार्क, दुनिया की सबसे बड़ी मछली जो 40 फुट की लंबाई और बीस टन का वजन रखती है। सब कुछ प्लवकों से ही चलता है। श्री विक्टर इन प्लवकों के विशेषज्ञ बन गए और दुनिया भर के समुद्रों में शोध के लिए तैरने लगे। फिर तो दुनिया भर की ऐसी जानकारी उनके भीतर तैरने लगी। इसी दौरान उन्हें पता चला एक अमेरिकी वैज्ञानिक के शोध का। इस वैज्ञानिक ने बतलाया था कि समुद्र में जीवन के लिए सब अनिवार्य तत्व मौजूद रहते हैं, केवल लौह के सिवाय। लौह के सूक्ष्म अनुपात के बिना किसी भी कोशिका में जीवन का संचार हो ही नहीं सकता। और लौह समुद्र के पानी में घुल जाता है, बच नहीं पाता किसी भी प्रकार के जीवन को पोसने के लिए।

तो फिर समुद्र में प्राणी ये जरूरी लोहा कैसे पाते हैं? जमीन से।

जमीन में खूब लौह तत्व रहता है। ये दो रास्तों से समुद्र में पहुंचता है और ऐसे रूप में कि जल्दी से धुले नहीं। एक तो नदियों के सहारे और दूसरा आंधियों की हवा में उड़ती धूल के कणों में। लेकिन इससे जीवन केवल समुद्रतट या सतह तक ही सीमित रह जाता है। जीवन अपना रास्ता खोज ही लेता है, और अगर उसे जरूरत हो लौह के परिवहन की तो फिर वह ऐसे जीवों को बढ़ावा देता है जो लौह को एक जगह से दूसरी जगह पहुंचा सके। यही वजह है कि समुद्र में वनस्पति कि तुलना में जीव ज्यादा होते हैं, जबकि जमीन के ऊपर जीवों की तुलना में वनस्पति कहीं ज्यादा पनपती है। समुद्री जीव इस लोहे के व्यापार को अपने शरीर से करते हैं, उनके गोबर में खूब लोहा होता है। वह भी ऐसे रूप में कि वनस्पति और दूसरे प्राणियों को जीवन मिल सके। इस बेहद जटिल लेन-देन में जीवों का भोजन, उत्तरजीवन और पुनर्जीवन बहुत बारीक और गहरे रसायन में गुंथा हुआ है।

इस रसायन के रहस्य को समझते हुए एक दिन श्री विक्टर को अपने लड़कपन का वह दिन याद आया जब उन्होंने हाथी का विध्वंस करीब से देखा था। और एक पल में नीली व्हेल की अथाह भव्यता उनके सामने एक सुलझी हुई व्याख्या बन कर प्रकट हुई। जैसे हाथी जमीन पर प्रकृति का माली है वैसे ही व्हेल समुद्र की कुरमी है। हाथी अपने बल से बड़े पेड़ तोड़ कर सूरज की

रोशनी जमीन तक आने देता है, जिससे जीवन के असंख्य रूप स्फुट होते हैं। ठीक वैसे ही व्हेल का विशाल शरीर लौह का चलता-फिरता कारखाना ही नहीं, दुलाई की मालगाड़ी भी है। यानि भिलाई और रेल मंत्रालय एक ही जगह!

इसमें शरीर की विशालता के अलावा व्हेल का परोपकार भी है। व्हेल अपने शरीर के भीतर समुद्र के खारे पानी से नमक अलग करती है। ऐसा करने में उसकी बहुत ऊर्जा खर्च होती है। फिर सहज ही वह इस पानी को अपने गोबर के साथ छोड़कर खारे पानी को साफ करने में फिर लग जाती है। इस गोबर में खूब इस्तेमाल लायक लौह होता है जो प्लवकों को पोषित करता है। जितना ज्यादा गोबर उतने ही ज्यादा शैवाल और प्लवक, और उतने ही ज्यादा वो प्राणी भी जो प्लवकों पर जीते हैं। इनमें उंगली बराबर क्रिल भी होती है, जो नीली व्हेल के आहार का आधार है।

नीली व्हेल के परोपकार का फल प्रकृति उसे ढेर सारे भोजन के रूप में वापस देती है। इसीलिए लाखों पीढ़ियों के क्रम विकास से वह दुनिया की सबसे बड़ी जीव बन गई है। केवल आकार ही नहीं, परोपकार में भी यह व्हेल सबसे बड़ी है। उसकी छाया में, उसके राज में, उसके गोबर से जीवन पनपता है। खासकर अंटार्कटिका के आसपास के दक्षिणी महासागर में, जहां दुनिया की सबसे बड़ी व्हेल सतह पर आकर सांस लेते हुए, फुहार छोड़ते हुए दिखती थीं।

लेकिन प्रकृति के दिए जिन गुणों से मनुष्य इतना सफल हुआ है उनका उपयोग उसने अंधाधुंध करना शुरू कर दिया है। जैसे बड़े-बड़े स्तनपायी जानवर हमारे पुरखों ने शिकार कर मिटा दिए वैसे ही आजकल समुद्र को निचोड़ा जा रहा है। व्हेल के शिकार के सबसे पुराने प्रमाण 5,000 साल पहले के तटीय इलाकों से मिलते हैं, लेकिन वह शिकार व्हेल की आबादी देखते हुए नगण्य ही था। ढाई सौ साल पहले हुई औद्योगिक क्रांति से ऐसे जहाज बनने लगे जो एक बार में कई व्हेल मार कर ला सकते थे। सन् 1900 के आसपास ऐसे जहाज बन गए जो तैरते हुए कारखाने जैसे थे, व्हेलों को मार कर उसका मांस तैयार करते थे और उनसे निकलने वाले वसा से तेल बनाते थे। सन् 1930 के दशक तक यह कारोबार इतना बढ़ गया था कि हर साल कोई 50,000 व्हेल मारी जा रही थीं।

हर प्रकार की व्हेल की आबादी तेजी से घटने लगी थी। फिर सन् 1946 में अंतर्राष्ट्रीय व्हेलिंग आयोग बनाया गया। चालीस साल बाद इसने व्हेल के शिकार पर प्रतिबंध लगा दिया। लेकिन आज भी व्हेल का शिकार चोरी-छुपे होता ही है। तीन देश इस प्रतिबंध का खुलकर विरोध भी करते हैं और उल्लंघन भी। ये हैं जापान, नॉर्वे और आइसलैंड। जापान व्हेल के मांस का सबसे बड़ा बाजार है। व्हेल के शिकार पर बहुत तीखा विवाद होता है जो संयुक्त राष्ट्र की अनंत थकी हुई

बहसों में खो जाता है। यदा-कदा अखबार की सुर्खियों में भी आ जाता है।

यह हाल केवल व्हेल का ही नहीं है। समुद्र से हर तरह के जीवों का नृशंस दोहन हो रहा है। सन् 1950 में केवल यूरोप, पूर्वी अमेरिका और चीन-जापान के तट पर मछली और दूसरे समुद्री जीव कम हो रहे थे। आज तो मछुआरे जहाज ज्यादा हैं और शिकार के लिए समुद्री प्राणी कम। प्रशांत और हिंद महासागरों से समुद्री जीवों की पकड़ बहुत तेजी से घटी है क्योंकि उनकी आबादी को पुर्नजीवन का मौका ही नहीं मिलता। मछली, केंकड़े, झींगा और हर तरह के समुद्री जीव घटते ही जा रहे हैं।

शैवाल और प्लवकों के भी बुरे दिन आ गए हैं। क्रिल की आबादी घट चुकी है। श्री विक्टर मानते हैं कि इसका कारण है व्हेल और लौह की समुद्र में अनुपस्थिति। लेकिन इसे दूर करना इतना मुश्किल भी नहीं है। उनका प्रस्ताव है कि अगर हम समुद्र में लौह फैला दें तो शैवाल फिर जी उठेंगे और उन पर जीने वाली क्रिल भी।

इससे व्हेलों को भोजन मिलना शुरू हो जाएगा और उनकी संतति फिर से कुछ बढ़ सकती है।

पर इतना लौह कहां से आएगा? खनन से निकले कचरे में खूब लौह होता है और यह सब यहां-वहां फेंक दिया जाता है क्योंकि इसे फेंकने के लिए जगह नहीं होती। वहां पड़ा-पड़ा ये जमीन बिगाड़ता है। यही कचरा समुद्र में जीवन का स्रोत बन सकता है, ठीक वैसे ही जैसे गाय के गोबर से खाद बनती है। लेकिन श्री विक्टर जानते थे कि समुद्री जीवन के लिए इतनी जहमत कोई नहीं उठाएगा। उन्हें एक युक्ति सूझी। उनका समाधान था मनुष्य के सामने आई आज तक की सबसे बड़ी समस्या, यानी जलवायु परिवर्तन।

अगर लौह से समुद्र में जीवन बढ़ाया जाए तो वह वातावरण से कार्बन सोख लेगा। शैवालों का जीवन पूरा होने पर उनकी खोल डूब कर समुद्रतल में दब जाती है, खासकर तब जब ढेर सारे शैवाल हों। उनकी खोल में कार्बन होता है। इसे वे वातावरण से सोखते हैं। उनके फलने-फूलने से वातावरण का कार्बन तो घटेगा ही, समुद्र में कई प्रकार का नया जीवन भी फिर जी उठेगा, ऐसा श्री विक्टर मानते हैं।

इसे सिद्ध करने के लिए लंबे समय तक बड़े-बड़े प्रयोग करने की जरूरत है और उसके लिए बहुत धन भी चाहिए। आजकल हर बड़ी कंपनी जलवायु परिवर्तन के समाधान की बात करती है, लेकिन उसकी आड़ में ध्येय मुनाफाखोरी ही होता है। इसलिए श्री विक्टर इस व्यावसायिक दुनिया की गोद में नहीं बैठना चाहते। पर उनके प्रयोग की संभावनाएं देखते हुए भारत और जर्मनी की सरकारों ने एक योजना बनाई है और उसे नाम दिया 'लौहाफेक्स'। जर्मन टीम का नेतृत्व

कर रहे हैं श्री विक्टर। भारतीय टीम का नेतृत्व कर रहे हैं गोवा के राष्ट्रीय समुद्रविज्ञान संस्थान के श्री वजीह नकवी। दो समुद्री यात्राओं के बाद आगे की तैयारी में दोनों तरफ के लोग जुट गए हैं। शुरु में उनके प्रयोग का पर्यावरणवादियों ने घोर विरोध किया। कहा कि ये समुद्र के साथ छेड़खानी है और षडयंत्र भी है। फिर विरोध धीरे-धीरे खतम हो गया।

श्री विक्टर जानते हैं कि सिर्फ समुद्र में लौह डालने से ही काम नहीं चलेगा, अपने प्रयोग को वे कुछ ऐसे समझते हैं: हम सब एक नाव में सवार हैं। मनुष्य की करतूतों से, बेतहाशा विकास से इस नाव में छेद हो गया है। लोहाफैक्स कुछ ऐसे है जैसे नाव को डूबने से बचाने के लिए उसका पानी निकालना। इससे छेद बंद नहीं होगा। छेद बंद करने के लिए हमें अपना स्वभाव और प्रकृति से संबंध नए सिरे से समझना होगा। हमें अपनी सीमाएं जाननी होंगी।

श्री विक्टर का कहना है कि इसके लिए दुनिया भर के लोगों को भारत के गुण समझने होंगे। वे कहते हैं कि बड़े स्तनपायीयों के विलुप्त होने की चर्चा में विज्ञान की दुनिया ये भूल जाती है कि अफ्रीका के अलावा केवल भारतीय उपमहाद्वीप पर ही बड़े स्तनपायी बच पाए थे। अफ्रीका तो मनुष्य का घर माना जाता है और वहां मनुष्य के दूसरे जीवों के साथ सहज और जन्मजात संबंध हैं। लेकिन भारत आने के बाद मनुष्य ने वह सब क्यों नहीं किया जो उसने दूसरे सब महाद्वीपों पर किया? वह भी तब, जब जानवरों के पास भागने की कोई जगह भी नहीं थी। दक्षिण में समुद्र है, उत्तर और पूर्व में हिमालय जैसे पहाड़ हैं और पश्चिम में बड़े रेगिस्तान।

इसका बिल्कुल ठीक जवाब देने के लिए प्रमाण हमारे पास नहीं हैं। लेकिन श्री विक्टर अपनी बरसों की साधना के बाद एक निष्कर्ष पर पहुंचे हैं। वे कहते हैं कि हाथी, सिंह, बाघ और गैंडे जैसे बड़े पशुओं का भारत में बचे रहने का संबंध है शाकाहार से। दुनिया में और कोई जगह ऐसी नहीं है जहां मनुष्य की आबादी का इतना बड़ा हिस्सा शाकाहारी हो जितना भारतीय महाद्वीप पर है। उसके बाद हिमालय और समुद्र के बीच बसने की वजह से लोग अपनी सीमाएं जानते रहे हैं, उन्हें ये भास रहा है कि अगर प्रकृति से खिलवाड़ किया तो वे सब भी खत्म हो जाएंगे।

श्री विक्टर की बात को इससे और भी बल मिलता है कि भारतीय उपमहाद्वीप पर जीवन जिस चौमासा की बारिश से चलता है उसका समय सीमित है। हजारों सालों से लोगों ने उस जल को रोक कर उससे अपना जीवन सींचा है। जंगल में अभयारण्य भी रहे हैं। कई परंपराओं में ऐसा माना जाता है कि जंगल के बिना जीवन नहीं है और वन्य प्राणियों के बिना जंगल नहीं। इसी वजह

से चाहे यहां मांसाहारी लोग भी रहे हों, लेकिन यह समझ रही है कि जीवन के विविध प्रकारों के बिना हमारा जीवन भी चल नहीं पाएगा। हमारे देश का एक बड़ा हिस्सा आज भी हर नए काम के पहले हाथी के सिर वाले विघ्न-विनायक गणेश को पूजता है।

जिस दौर में दुनिया भर से बड़े प्राणी विलुप्त हुए उस दौर के बारे में हमारी जानकारी अभी अधूरी है। लेकिन ये तो प्रत्यक्ष है कि हमारे यहां आज भी बड़े-बड़े वन्य पशु पाए जाते हैं। और हमारे यहां ही दुनिया के सबसे ज्यादा शाकाहारी हैं। दुनिया के जिन हिस्सों में बड़े पशु विलुप्त हो गए वहां के लोग मांसाहारी हैं। और ये तो सबको पता है कि मांसाहारी भोजन घर-घर पहुंचाने में जितना कार्बन वातावरण में उत्सर्जित होता है उतना ही जंगलों का विनाश भी होता है।

शाकाहार केवल अहिंसक जीवन का मार्ग भर नहीं है। श्री विक्टर उसमें मनुष्य के उत्तरजीवन के जवाब देखते हैं। इसी वजह से कई बरस पहले वे पूरी तरह शाकाहारी बनने की कोशिश करने लगे। तब श्री विक्टर को एक और विचित्र समस्या दिखी: दुनिया के ज्यादातर समाजों में शाकाहारी भोजन पकाने का कौशल आज बचा ही नहीं है। मांस पर आधारित भोजन ही पकाना आता है उन्हें। यूरोप और अमेरिका में भारतीय भोजन और शाकाहार फैशन की तरह फैलता जरूर दिखता है, लेकिन वहां शाकाहार पकाने वालों की घोर कमी है।

इसमें भारत के युवाओं के लिए श्री विक्टर को उम्मीद दिखती है। वे कहते हैं कि हमें हजारों की संख्या में ऐसे रसोइए तैयार करने चाहिए जो स्वादिष्ट शाकाहार पका कर खिला भी सकें और पकाना सिखा भी सकें। उन्हें इस बात का दुख भी है कि हम भारतीय अपनी सबसे सुंदर, संस्कारी परंपराओं में विश्वास खो चुके हैं और यूरोप की उस सफलता से घबराए बैठे हैं जो समय-सिद्ध तो है ही नहीं और जिसने जलवायु परिवर्तन के मुहाने पर लाकर हम सबको खड़ा कर दिया है। आज उन परंपराओं में मनुष्य जाति के बचने के रहस्य छुपे हैं।

उन रहस्यों को समझाने के लिए कुछ लाख रसोइये चाहिए!

श्री विक्टर स्मेटाचेक दुनिया के जाने-माने समुद्र जीवविज्ञानी हैं। उनका पढ़ना-पढ़ाना जर्मनी के अल्फ्रेड वेगनर इंस्टीट्यूट फॉर पोलर एंड मरीन साइन्स में हुआ है। आजकल वे गोवा के राष्ट्रीय समुद्रविज्ञान संस्थान में मानद प्राध्यापक भी हैं। वे इस विषय पर दुनिया की प्रसिद्ध विज्ञान पत्रिकाओं में लिखते हैं और सचित्र भाषण भी देते हैं। 17 मार्च 2012 को उन्होंने नई दिल्ली में पहली बार हिंदी में एक भाषण दिया। यह लेख उनके उस भाषण और दूसरी जानकारी से बना है।



घर-घर की प्रवासी कहानी

सुधांशु भूषण मिश्र

कभी आजीविका तो कभी बेहतर सुख-सुविधा खोजते हुए देश से बाहर लोग जाते ही थे। देस-परदेस के किस्से न जाने कब से चले आ रहे हैं। हर देश के किसी न किसी कालखंड में देस छोड़ परदेस जाने के रूप भी बदलते रहे हैं। अफ्रीका के न जाने कितने देशों ने तो अपनी आबादी के एक बड़े भाग को जबरन पकड़ कर किसी और देश में मजदूर की तरह ही नहीं, गुलामों की तरह बिकते देखा है। इनकी खरीद-फरोख्त यूरोप, अमेरिका के किन देशों, भागों में होगी— यह निर्भर करता था इन्हें कहां से उठाया जा रहा है। समुद्री मार्ग से सबसे कम दूरी पर, सबसे कम खर्च में इन्हें कहां-कहां सबसे ज्यादा लाभ पर बेचा जा सकता है— इससे तय होता था इनका नरक।

मनुष्य जाति के इतिहास के उस सबसे भयानक दौर को, पाप की स्याही से लिखे उन हजारों पन्नों को अभी यहां छोड़ दें। आज तो हम अपने ही परिवारों से खूब गा बजा कर परदेस जाने वाले ताजे दौर की थोड़ी-सी चर्चा करना चाहते हैं। इन प्रवासी भारतीयों के जीवन में घटने वाली अच्छी बुरी घटनाओं, उतार-चढ़ाव आदि की भी चर्चा यहां नहीं करेंगे हम। अभी तो इस विशिष्ट जीवन में आने वाली एक और भी विशिष्ट बीमारी को समझने की कोशिश करेंगे।

बहुत कम लोगों को पता होगा कि ज्यादातर प्रवासी भारतीयों, एन.आर.आई. को बहुत जल्द एक अजीबोगरीब बीमारी आ घेरती है। इस रहस्यमय बीमारी का पता बिरलों को ही समय से चल पाता है, वरना ज्यादातर ता-उम्र भुगतते हैं पर इसे समझ नहीं पाते। आज तक इस बीमारी का न निदान खोजा जा सका है, न इसका नाम ही तय हो सका है। लेकिन इसके लक्षण साफ हैं— उमंग, बेचैनी, अकेलापन, उत्साह, व्यग्रता, स्मृतियां— सब साथ-साथ।

विस्तृत जानकारी तो नहीं है पर इतना जरूर कहा जा सकता है कि इस बीमारी के शिकार लोग कहे न कहे, मन की गहराई में 'घर लौटने' की इच्छा

रखते हैं। है न अजीबोगरीब बीमारी। इसे क्या नाम देंगे आप? फिलहाल हम इसे 'प्रवासी-व्यथा' नाम दे लेते हैं।

इस बीमारी को ठीक से समझने के लिए इसके अतीत में झांक लेना उपयोगी रहेगा। यह प्रायः भारतीय उपमहाद्वीप के सारे देशों, भारत, पाकिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश, श्रीलंका के नौजवानों को लगती है। कहीं इसका फैलाव ज्यादा है तो कहीं कम। अंतर बस संख्या का है, लक्षण एक ही है। इन देशों के उच्च-मध्यवर्गीय माने गए परिवेश में पले-बढ़े किशोर-किशोरियां ही इसके शिकार ज्यादा बनते हैं। क्योंकि लक्षण सभी देशों में समान हैं, सो हम अपने ही देश में इसके प्रचलित स्वरूप को लेकर बात आगे बढ़ाते हैं।

हमारे यहां यह बीमारी खासकर मध्यवर्गीय और उच्च-मध्यवर्गीय परिवेश में पले-बढ़े नौजवानों, नवयुवतियों को ज्यादा पकड़ती है। इसके लक्षण पहले-पहल पंद्रह या सोलह की उम्र में दिखाई पड़ते हैं जब मन में सात समुंदर पार, विलायत, यूरोप, अमेरिका आदि जाकर किस्मत आजमाने की इच्छा रूप लेना शुरू करती है। किशोर-किशोरियां जब दसवीं या बारहवीं जमात में रहते हैं, तभी किसी दिन उनके मन में किसी एम.आई.टी. कैलटेक या विजनेस स्कूल अर्थात् आई.आई.टी. या आई.आई.एम. में दाखिले की तमन्ना उठती है। घर के बड़े बुजुर्ग और नाते-रिश्तेदार उनका उत्साह बढ़ाते हैं।

माता, पिता की आर्थिक सहायता और नाना प्रकार के कोचिंग संस्थानों की मदद से युवक और युवतियां अखिल भारतीय परीक्षाएं पास कर इनमें से किसी कालेज में प्रवेश पाने में कामयाब हो जाते हैं। इन विद्यालयों में जैसे-जैसे उनका समय बढ़ता है, नई दुनिया में छलांग लगाने की उनकी इच्छा भी प्रबल होती जाती है। पढ़ाई के अंतिम सालों तक दिल्ली, मुंबई, चेन्नई या कोलकता के अमेरिकी, ब्रिटिश या कनाडाई दूतावासों में उनकी अर्जी पड़ जानी चाहिए—उनका यह संकल्प पक्का हो चलता है।

कागजी खानापूरी और हजारों रुपए फीस चुकाने के बाद अधिकांश के भारतीय पासपोर्ट पर उन दूतावासों का कोई अधिकारी बेशकीमती एफ-वन यानी स्टूडेंट वीसा का ठप्पा लगा देता है। वीसा की बाधा-दौड़ पूरी होने पर नौजवानों का सीना गर्व से फूल जाता है और वे शीघ्र ही अपने देश की दुर्दशा का अवसाद मन में दबाए, शिक्षा जगत के स्वर्ग यानी अमेरिका या ब्रिटेन के लिए तैयारी में जुट जाते हैं।

सजल नयनों के साथ रिश्तेदारों और दोस्त-मित्रों से गर्व से विदा लेकर मन में जल्द वापस लौटने की इच्छा के साथ हमारी यह लाइली, लाइला सात समुंदर पार प्रस्थान करता है। कुछ महीनों के भीतर माता-पिता, सगे-संबंधियों, दोस्त मित्रों को वह अपने हाई जीपीए, नियाग्राफॉल, बर्फ, दस्ताने, ओवरकोट वगैरह-वगैरह

के बारे में बताना शुरू करता है। इस आपाधापी में प्रवास का पहला एकाध साल बीत जाता है। नौजवान हाई जीपीए के साथ ग्रेजुएट स्कूल की पढ़ाई पूरी कर लेता है। अब उसकी दौड़ किसी ऐसी कंपनी की खोज में शुरू होती है जो न केवल उसे नौकरी दे बल्कि तीन वर्ग इंच आकार वाला 'ग्रीन-कार्ड' भी दिला दे। कहने की जरूरत नहीं कि अमेरिका में ऐसी कंपनियों की संख्या काफी ज्यादा है। इन कंपनियों को ऐसे कर्मचारी बहुत भाते हैं क्योंकि समय ने यह साबित कर दिया है कि ये मेहनती, ईमानदार और वफादार होते हैं।

चार अंकों की रकम वाला पहला चेक पाकर लाड़ला खुशी से फूला नहीं समाता। उसे याद आते हैं तीस साल से कोई साधारण-सी नौकरी बजा रहे अपने पिता या मां। सेवा निवृत्ति के करीब पहुंचने के बाद भी आज उनको इस पहले चेक से शायद तीसवां हिस्सा ही पल्ले पड़ता हो। पहले कुछ महीनों में वह उसे डॉलर से रुपए में बदलता है और पलक झपकते 50 गुना रुपया देखकर उसकी आंखें विस्मय से फटी रह जाती हैं। बाप रे, एक-दो सप्ताह में इतना रुपया!!

गैस स्टेशन, ग्रीसरी स्टोर, रेस्टॉरेंट या मोटल में काम करने वाले लाड़लों के लिए डालर और रुपए वाला गणित लंबे समय तक चल सकता है। साल बीतते-बीतते ग्रीन-कार्ड की कार्रवाई भी शुरू हो जाती है। ऐसे में देश लौटने का सपना थोड़ा टाल देना उसे उचित ही लगता है। प्यारा ग्रीन-कार्ड अब साल, सवा साल ही दूर है।

उधर, सात समंदर पार बैठे मां-बाप, दादा-दादी, बुआ, मामा आदि अमेरिका की अनेक छुतही बीमारियों को लेकर परेशान लगते हैं। उन्हें एड्स की चिंता भी सताने लगती है।

वे लाड़ले के लिए अब सक्रियता पूर्वक 'उचित'

वधू की खोज शुरू करते हैं। अखबारों में विज्ञापन छपते हैं। शादी डाट-कॉम आदि पर नौजवान अपने ब्यौरे पहले ही डाल चुका है। पत्राचार अब पुराने जमाने की दकियानूसी बात हो गई है। फोन, वेब-कैम, ई-मेल आदि से वर और संभावित वधू में आरंभिक वार्तालाप आरंभ होता है। उसके बाद शुरू होता है लाड़ले की पहली देश वापसी का इंतजार। इधर नौजवान भी कम बेचैन नहीं है, लिहाजा मौका पाते ही वह स्वदेश यात्रा का बंदोबस्त करता है।

संदूक के दिन गए। घर पहुंचने पर वह बड़ी-सी विचित्र चमकीली अटैची से भानमती का पिटारा निकालता है— चंगू, मंगू, मां-पिता, पप्पू और सिम्मी,

मनुष्य जाति के इतिहास के उस सबसे भयानक दौर को, पाप की स्याही से लिखे उन हजारों पन्नों को अभी यहां छोड़ दें। आज तो हम अपने ही परिवारों से खूब गा-बजा कर परदेस जाने वाले ताजे दौर की थोड़ी-सी चर्चा करना चाहते हैं।

यानी सभी के लिए वह कुछ न कुछ सामान लाया है। किस्तों में अमेरिका की अकूत दौलत की चर्चा चलती है। उस देश में कुबेर के खजाने की बात सभी रस लेकर सुनते हैं। एकाध दिन आराम करने के बाद संभावित वर-वधुओं, अधिकांश मामलों में वधुओं का फोटो सामने रखना आरंभ होता है। इनमें से कुछ को छांट कर लाइला इंटरव्यू के लिए तैयार होता है। यदि सब कुछ समय से चलता रहा तो उम्मीद की जा सकती है कि वह इनमें से किसी संभावित वधू को अमेरिकी चोला पहनाने की सहमति देगा।

इस गठजोड़ की मुख्य वजह अमेरिका में बसने की संभावना रहती है। इससे साफ होता है कि नवयुवक की फिलहाल स्वदेश वापसी की संभावना गौण है। कोई न इस बारे में बात करता है, न इसे उठाने में दिलचस्पी ही दिखाता है। अगर जीवट वाला कोई दोस्त-मित्र या रिश्तेदार यह सवाल उठाए भी तो कोई दूसरा भारत में बिजली की कमी, स्टेशन, बाजार में धकमपेल, धूल-धक्कड़, कदम-कदम पर रिश्वतखोरी, बम-गोला, नौकरी की कमी, जातिवाद, राजनीति आदि-आदि का जिक्र करके यहां के पिछड़ेपन की याद दिला देता है।

नया जोड़ा यथाशीघ्र अमेरिका लौट जाता है। वहां वर-वधू के अमेरिकी दोस्त-मित्र परिवार द्वारा तय की गई शादी की बर्बरतापूर्ण प्रथा की गाथाएं पूछते हैं। माथे पर लगी बिंदी की भी अक्सर चर्चा चलती है और वर-वधू को हर बार नए सिरे से यहां के पिछड़ेपन और दकियानूसी परंपराओं की कहानी सुनानी पड़ती है। शीघ्र ही भारतीय दोस्त-मित्रों के साथ शादी का वीडियो देखने के लिए पार्टियां आयोजित होने लगती हैं।

पर यह सब कितने दिन चल सकता है? ऊब कर यह जोड़ा सप्ताहांत कभी इस घर तो कभी उस घर में होने वाली छोटी-बड़ी पार्टियों, मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारों, जगराते, होली, दिवाली-मिलन जैसे आयोजनों में शिरकत कर मन बहलाव करने पर उतर आता है। हफ्ते, दो हफ्ते में भारतीय सामान बेचने वाली दुकानों की दौड़ लगती है जहां से नई हिंदी, तमिल, मलयाली फिल्मों के पाइरेटेड वीसीडी एक-दो डॉलर में मिल जाते हैं। बीच-बीच में भजन, जगराते, हवन, अर्चनाएं भी चलती रहती हैं।

शुरू-शुरू में वधू को घर की याद सताती है, पर वाशिंग मशीन, डिश-वाशर,

चार अंकों की रकम वाला पहला चेक पाकर लाइला खुशी से फूला नहीं समाता। उसे याद आते हैं तीस साल से कोई साधारण-सी नौकरी बजा रहे अपने पिता या मां। सेवा निवृत्ति के करीब पहुंचने के बाद भी आज उनको इस पहले चेक से शायद तीसवां हिस्सा ही पल्ले पड़ता हो।

बाथरूम में ठंडे-गर्म पानी का निर्वाध प्रवाह, वैक्यूम क्लीनर, टीवी पर दिन-रात चलते सोप-ऑपरा, सास-ससुर की 'मेहरबानियों' से छुटकारा आदि आकर्षण उसे घर की याद भुलाने में मदद करते हैं। इंटरनेट-फोन से घर पर रोज ही बात हो जाती है, सो भी लो बिलकुल मुफ्त।

दोस्त-मित्रों के साथ भेंट-मुलाकात में भारत वापसी का जिक्र शायद ही उठे। ऐसी भेंट, मुलाकातों में मंदी, चीन के बढ़ते प्रभाव, स्टॉक मार्केट, पेंटागॉन के नए हथियार, नए प्रोजेक्ट जैसे विषयों की ही चर्चा प्रमुख रहती है। स्त्रियों की मंडली गहने, कपड़े, नए घर, नई कार, किसका बच्चा कहां पढ़ने गया जैसे नए महत्वपूर्ण विषयों पर ध्यान केंद्रित करती हैं।

ऐसे में समझा जा सकता है कि देस वापसी का विचार लाड़ले के लिए यहां तरक्की की असीम संभावनाओं के पीछे छिप जाता है। उसकी जिम्मेदारी बढ़ती जाती है। उसी हिसाब से उसका वेतन लगातार चढ़ रहा है। उसने किसी महंगे उपनगर में अब दो गराज वाला घर भी खरीद लिया यानि अब उसके पास एक नहीं, दो मोटर गाड़ी हैं। अर्थात् अपने अमेरिकी सपने का पहला चरण पूरा कर लिया है। साल-डेढ़ साल के भीतर ही नन्हे-मुन्ने का आगमन हो जाता है जिसके साथ वह भारत में माता-पिता का विशुद्ध भारतीय सपना पूराकर स्वयं को पितृ-ऋण से मुक्त कर लेता है। प्रसूति और नवजात की देखभाल के लिए सासू मां भी ठीक समय पर अमेरिका पहुंच जाती हैं। साफ है कि अगर अमेरिकी विकल्प उपलब्ध है तो कोई भला 'वंश बढ़ाने' भर के लिए भारत रहना क्यों चाहे?

पैसे-रुपए से जितनी सुख-सुविधा खरीदी जा सकती है, वह सब हो चुकने के बाद यह बीमारी पहली बार 'प्रकट' होती है। इसके पहले लक्षण 'कुछ ठीक नहीं चल रहा है' इस अहसास के साथ उभरते हैं। अचानक पुराने दोस्त-मित्रों की याद सताने लगती है। कुछ खालीपन महसूस होता है। वीडियो कैमरे, आईफोन आदि से मन भर जाता है। नई चमचमाती कार का शौक भी अब फीका पड़ने लगता है।

लाड़ला अब अधेड़ हो चुका है। उसकी आंखों के सामने उसके गोरे सहयोगियों को तरक्की मिल जाती है, विश्वविद्यालय उसे टेन्चोर देने में हिचकिचाता है। सप्ताहांत वाली पार्टियों में भी अब नया क्या बचा है। उनमें अब मजा नहीं रहा। पिछले पंद्रह सालों के दौरान बाजार में कई बार मंदी आ चुकी है। कंपनी को कोई और खरीद लेगा ऐसी बातें भी उससे छिपी नहीं रहतीं। इस कारण नौकरी अब गई, तब गई उसे यह चिंता भी सताने लगती है। उसे अमेरिकी संस्कृति सहसा अजीबोगरीब लगने लगती है। इस समय तक उसका अंग्रेजी उच्चारण करीब-करीब अमेरिकीओं जैसा हो गया है। हिंदी या मातृभाषा

से जुड़ाव भी कमजोर हो चुका है। इधर, उसका नन्हा-मुन्ना कॉलेज में पहुंच गया है, अब वह भी अपनी दुनिया बसाने की जद्दोजहद में है।

ठीक इसी समय लाइले के मन में भारत चल कर नौकरी चाकरी या व्यापार की संभावनाएं टटोलने का विचार आता है। छुट्टियां बचाकर वह स्वदेश लौटता है लेकिन वहां नौकरशाही और पिछड़ापन देखकर उदास मन लिए वापस लौट आता है। सत्तर के दशक में ऐसे अनेक प्रवासी भारतीयों ने भारत में मुर्गीपालन के व्यापार शुरू किए थे। अस्सी के दौर में इलेक्ट्रॉनिक्स का बोलबाला रहा। नब्बे के दशक में कम्प्यूटर साफ्टवेयर, बैंक-ऑफिस, कॉल-सेंटर अथवा भारत से नए ग्रेजुएट यहां अमेरिका लाने का सिलसिला चला।

अमेरिका में रहते हुए लाइले को तीस-पैंतीस बरस गुजर चुके हैं। हाल में उसके एक मित्र ने अचानक हार्ट अटैक में प्राण गंवा दिया है। उन मित्र की अंतिम इच्छा होती है कि उनकी अस्थियां भारत में विसर्जित हों। इस प्रकार अंततः हमारे एक प्रवासी मित्र की हमेशा के लिए घर-वापसी तो हो जाती है, लेकिन इस समय तक भारत में उसकी बाट जोहने वालों में शायद ही कोई बचा रहता है। सच ही कहते हैं, दो नावों पर सवारी करने वाले न इस घाट पहुंच पाते हैं, न उस घाट!

यों हर किसी को कहीं भी बसेरा बसाने की स्वतंत्रता है, परंतु प्रवासी-व्यथा का मरीज अपनी पसंदीदा भूमि पर भी सुख चैन नहीं महसूस कर पाता। वास्तविकता यह है कि उसका मन पेंडुलम की भांति अनिश्चय में कभी इस तरफ तो कभी उस तरफ झूलता रहता है। इनमें कोई जीवट वाले मरीज ही मन स्थिर कर पाते हैं और उस दिशा में कदम उठा पाते हैं।

ऐसे मरीजों में क्या खासियत होती है? कहना न होगा कि उन्हें यह दिख जाता है कि यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, अमेरिका कोई स्वर्ग नहीं। यहां भी दिक्कतें हैं, असुविधाएं हैं, पक्षपात है, भेदभाव है। उन्हें समझ में आ जाता है कि यहां सोना कोई पेड़ पर नहीं उगता। उसके लिए हाइलोड मेहनत यहां भी करनी पड़ती है। हां, यहां बेगानापन ऊपर से काटता है। शुरू में इतना बेगानापन नहीं लगता था। उत्साह और उमंग नित नई चीजें, नई तहजीब, नए तौर-तरीके सीखने की प्रेरणा देते रहते थे। नए लोगों से मिलना-जुलना भी अच्छा लगता था। 'दायरा बढ़ रहा है' यह अहसास मन को दिलासा देता था।

**पैसे-रुपए से जितनी
सुख-सुविधा खरीदी जा सकती
है, वह सब हो चुकने के बाद
यह बीमारी पहली बार 'प्रकट'
होती है। इसके पहले लक्षण
'कुछ ठीक नहीं चल रहा है', इस
अहसास के साथ उभरते वीडियो
कैमरे, आईफोन आदि से मन
भर जाता है।**

धीरे-धीरे सीखने लायक सारी बातें सीख ली जाती हैं तो नजर सहसा बदलने लगती है। अब दिखाई देने लगता है कि सड़कों पर जाम यहां भी लगता है। यहां भी बाढ़ का पानी घरों में घुस कर तबाही मचाता है, विचित्र नामों से जाने गए तूफान घरों की छतें तक उड़ा ले जाते हैं। यहां भी कोकीन जैसी मादक दवाओं का बोलबाला है, यहां भी मिस्त्री ठीक से पूरा काम नहीं करता, यहां भी बीमा अर्थात् पैसा न हो तो अस्पतालों में डॉक्टर बेरुखी दिखाता है। शनि-रवि घर में झाड़ू-बुहारू यहां भी करना पड़ता है— जीवन यहां भी उदास हो सकता है और यहां भी।

ऐसे अहसासों के बाद अपना देश नए रंग में दिखने लगे, यह स्वाभाविक ही कहा जाएगा। दूर से अपना भारत सचमुच बहुत ही प्यारा लगता है। इसी के साथ मन में यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि साठ पहुंचने पर भी क्या मैं इसी तरह जिंदगी जीना चाहूंगा? क्या मैं नितांत अकेला रहने को तैयार हूं? क्या मैं अपने बाल-बच्चों की जीवन शैली में घुलमिल पाऊंगा?

भारत में निश्चय ही समस्याओं का अंबार है। हमें उनके विस्तार में जाने की जरूरत नहीं क्योंकि सभी उन्हें जानते हैं— सड़कें, बिजली, पानी रिश्वत, लालफीताशाही, नौकरशाही... हम बातें भले न करें पर दादा, दादी, नाना, नानी, बुआ, फूफा, मौसा, मौसी, ताऊ, चाचा, नाते, रिश्तेदार— ये सभी हमारे दिलों में घर बनाए रहते हैं।

तो हमारा जवाब क्या होगा? उहापोह के कारण कुछ महत्वपूर्ण बातें नजरों से हमेशा चूक जाती हैं— हम या तो यहां दिक्कतें झेले या वहां दिक्कतें झेले, दोनों जगह समस्याएं हैं, कोई जगह स्वर्ग नहीं। और, एक बार अगर यह दिख जाए कि स्वर्ग कहीं नहीं है तब उहापोह की स्थिति खत्म हो जाती है और मरीज बीमारी से उबरने लगता है।

दूसरे शब्दों में, इस बीमारी की जड़ भारत-अमेरिका की तुलना में छिपी है। हम समस्याओं की नहीं सुविधाओं की तुलना करने लगते हैं। यही वजह है कि हम भारत की भीड़ भरी सड़कों से परेशान हो जाते हैं, पर हमें यूरोप अमेरिका की उबाऊ जिंदगी दिखाई नहीं देती। हमें भारत का पागलपन तो दिखाई देता है, पर अमेरिका का पागलपन आंखों से चूक जाता है। यदि हमें दोनों जगह पागलपन दिख जाए तो हम इस पागल बीमारी से पूर्णतः ठीक हो जाएं।

हिन्दी पत्रकारिता से जुड़े श्री सुधांशु भूषण मिश्र अमेरिका में मनोचिकित्सक की भूमिका निभाते हुए अपने को अनेक तरह की सामाजिक गतिविधियों से जोड़े हुए हैं।



सत्यमेव जयते!

कुमार प्रशांत

हम सत्यमेव जयते कहते तो बहुत पहले से आ रहे हैं लेकिन देश में कभी सत्यमेव जयते की गूंज इस तरह गूंजी हो, याद नहीं आता! यह भरोसा भी धीरे-धीरे छीजता ही गया है कि सत्य की जीत होती है। अगर होती भी हो तो उसमें इतनी देर लगती है और इस दौरान सत्य की इतनी छीछालेदर हो चुकी होती है कि वह एकदम बेमजा हो जाता है! लेकिन आमिर खान का पहला टीवी शो अपने पहले ही एपिसोड में इतने आत्मविश्वास से सत्यमेव जयते कहता है कि कहीं यह भरोसा होता है कि लड़ाई अभी हारी नहीं गई है, कि रास्ते हैं और सिलसिला भी है! आमिर खान के इस शो का आगे कैसा और क्या स्वरूप बनेगा, कहना कठिन है। आमिर फिर हमसे मुखातिब हों, इससे पहले हम यह देखें कि हम उनका सत्यमेव जयते कैसे देखें!

हमें बताया गया है और इससे हमारी आदत भी बन गई है कि हम टीवी के कार्यक्रमों से मनोरंजन की अपेक्षा करते हैं। इसमें गलत या बुरा कुछ नहीं है क्योंकि मनोरंजन इंसानी वजूद की जरूरत है। लेकिन जरूरत इस बात की भी है कि मनोरंजन कहते किसे हैं, इसे जरूर समझें हम। देखते-देखते हम सभी महसूस करने लगे हैं कि सास-बहू वाला मसाला भी अपनी तासीर खो चुका है और खानदानों की शत्रुता वाला भी! गीत-गाने, नृत्य-चुटकुले सबकी धारावाहिकता धीरे-धीरे बासी पड़ गई है। अगर थोड़ा ध्यान दें हम तो पाएंगे कि जो कार्यक्रम जितना लंबा खिंचा है, उतना ही बेमजा होता गया है और अंततः बाजारू बन कर रह गया है। अब जो बचा है वह फूहड़ता की सीमा पार करता जा रहा है। इतना ही नहीं बल्कि हम दर्शकों के प्रति उसमें कोई सम्मान भी नहीं बचा है! तो क्या इससे हम यह नहीं समझ सकेंगे कि मन और रंजन दोनों का मेल नहीं होगा तो कोई मनोरंजन हो ही नहीं सकता है और यह मेल बिठाना गहरी रचनात्मकता की मांग करता है। इसलिए आप मनोरंजन कहां खोजते हैं और

कहां पाते हैं, इससे कार्यक्रमों का ही नहीं, हमारा अपना परिचय भी मिलता है।

आमिर खान से पहले भी कई सितारे टीवी शो लेकर आ चुके हैं। एक अमिताभ बच्चन का कौन बनेगा करोड़पति को छोड़ दें तो बाकी दूसरे सभी के सभी टीवी के कूड़ाघर में फेंके जा चुके हैं। अमिताभ के शो की भी असली ताकत उसमें मिलने वाला पैसा है! इसलिए हम देखते हैं कि पैसा बढ़ाया भी जाता रहा है और अमिताभ को हर दूसरे वाक्य में यह याद कराना ही पड़ता है कि आप

आमिर खान का पहला टीवी शो अपने पहले ही एपिसोड में इतने आत्मविश्वास से सत्यमेव जयते कहता है कि कहीं यह भरोसा होता है कि लड़ाई अभी हारी नहीं गई है, कि रास्ते हैं और सिलसिला भी है! आमिर खान के इस शो का आगे कैसा और क्या स्वरूप बनेगा, कहना कठिन है। आमिर फिर हमसे मुखातिब हों, इससे पहले हम यह देखें कि हम उनका सत्यमेव जयते कैसे देखें!

यहां से क्या जीत कर जाएंगे! अपना शो चलाए रखने के लिए अमिताभ दूसरे सारे टोटके करते रहते हैं ताकि लोगों का दिल लगा रहे! अगर यह कहूं कि मनमोहन देसाई की फिल्मों का टीवी संस्करण है अमिताभ का 'कौन बनेगा करोड़पति' तो आप बात को ठीक से समझ सकेंगे शायद! मसाला फिल्मों की खाद पर ही अमिताभ का पौधा पनपा है; और अब हाल ऐसा है कि उससे अलग, किसी दूसरे रास्ते पर वे जाते ही नहीं हैं, हां अपनी शख्सियत के जोर पर वे अपने शो को कुछ अलग-सी शक्ति तो दे ही जाते हैं।

आमिर सत्यमेव जयते के साथ सामने आते हैं तो उसमें वह सारा कुछ नहीं है जो अमिताभ के पास है। सबसे पहले तो आमिर के पास अमिताभ जैसी वह आदमकद छवि ही नहीं है। अपनी जो छवि बनाई है आमिर ने, वह रास्ता खोजने में लगे एक संवेदनशील हिंदुस्तानी

की है। इसलिए सत्यमेव जयते के उद्घाटन दृश्यों में सागर के अनंत विस्तार में यहां-वहां जब वे दीखते हैं और अपनी बात कहते ही जाते हैं तो वह एक भरोसे का, आपसी विश्वास का तथा ईमानदार चर्चा का माहौल बनाता है। जगमगाती-जलती-बुझती रोशनी और रोज-रोज नई-नई काट के कपड़े अमिताभ को नयापन भी देते हैं और कुछ को मुग्ध भी करते होंगे। आमिर के पास यह भी नहीं है। उम्र ने अब उनके चेहरे पर अपना गहरा वजूद जिस तरह आंक दिया है उससे चॉकलेटी हीरो की उनकी पुरानी छवि भी कहीं खो गई है। अब जो आमिर हैं वह अपने वजूद से हैं और उनका यह शो तारे जमीन पर का सिलसिला आगे बढ़ाता लगता है। आप जल्दी ही महसूस करने लगते हैं कि यह आदमी

दीखने-दिखाने से कहीं अधिक सुनने-समझने की कोशिश में लगा है और आप उसके साथ बैठे हैं तो आपको भी ऐसा ही करना चाहिए। थोथे आदर्शवाद से जैसी विमुखता पैदा होती है उससे एकदम अलग, आमिर की सफलता इसमें है कि वे अपनी ईमानदारी से हमें जोड़ लेते हैं।

कन्या भ्रूणहत्या एक ऐसा अपराध है कि जो चोरी-छिपे चलाया जा रहा है या खुलेआम मजबूती से, मेरे लिए कहना कठिन है। हमारे परिवारों में, हमारे समाज में, हमारी परंपरा और हमारे सिखावन में जो औरत दिखाई देती है वह तो इसी लायक दिखाई देती है कि उसकी भ्रूणहत्या कर दी जाए! ऐसा तो होता ही है न कि कई परिस्थितियों में जिंदगी से कहीं अच्छी मौत लगने लगती है। लड़की के साथ भी ऐसा ही होता है। अगर हम कन्या भ्रूणहत्या नहीं करते हैं तो कन्या-हत्या तो करते ही हैं। जब हम उसे पूरा खाना नहीं देते हैं, उसकी खेलने-खाने-गाने की उम्र को खिलने नहीं देते हैं, उसे हर कदम पर यह अहसास कराते हैं कि वह दोगम दर्जे की है, कि उसकी घरेलू या सामाजिक भूमिका का कोई खास वजूद नहीं है, उसे लेकर हमारा सबसे बड़ा सपना यही होता है कि कहीं इसकी जल्दी शादी हो जाए ताकि हमें छुटकारा मिले। हम कहीं यह भी मानते हैं कि यह सारा कुछ लड़की का मामला है जो लड़की को ही भुगतना है और वह जो कुछ भुगतती है वह सारा ही उसी के साथ खत्म भी हो जाता है।

आमिर की पुरानी छवि भी कहीं खो गई है। अब जो आमिर है, वह अपने वजूद से हैं और उनका यह शो तारे जमीन पर का सिलसिला आगे बढ़ाता लगता है। आप जल्दी ही महसूस करने लगते हैं कि यह आदमी दीखने-दिखाने से कहीं अधिक सुनने-समझने की कोशिश में लगा है और आप उसके साथ बैठे हैं तो आपको भी ऐसा ही करना चाहिए। थोथे आदर्शवाद से जैसी विमुखता पैदा होती है। उससे एकदम अलग, आमिर की सफलता इसमें है कि वे अपनी ईमानदारी से हमें जोड़ लेते हैं।

आमिर खान का सत्यमेव जयते कहता है कि नहीं, यह कहीं खत्म नहीं होता है, यह तो समाज के खून में घुलता जा रहा है। लड़कों की तुलना में लड़कियां कम हैं, यह आंकड़े का सवाल नहीं है। अगर हर साल अपने यहां 3 करोड़ लड़कियां गर्भ में ही मारी जा रही हैं तो समस्या के कितने पहलू खुलते हैं, यह देखें आप! शो में हम मध्य प्रदेश या हरियाणा के उन लड़कों से मिलते हैं जो कुंआरे रह गए हैं क्योंकि लड़कियां नहीं मिल रही हैं। और तब आमिर बताते हैं कि कैसे इससे सामान्य घरों-समाजों में लड़कियों की हैसियत गिरती जा

रही है। इसका असर यह हो रहा है कि स्त्री-पुरुष संबंधों के बारे में कोई स्तर नहीं बचा है। बाजार में, स्कूल में, चौक-चौराहे पर, घर के अकेले-अंधेरे कोने में हर कहीं लड़की पर हमले हो रहे हैं और आप जिसे अपराधी मान कर उंगली उठा रहे हैं वह हमलावर लड़का सामान्य आदमी नहीं है, बीमार है। करोड़ों लड़कों को लड़की नहीं मिलेगी तो समाज का माहौल कैसा बनेगा, इसकी कल्पना करें आप! लड़के को लड़की का न मिलना या इसका उल्टा होना समाज को सामूहिक तौर पर बीमार बनाता जाता है। इसका इलाज यह खोजा गया कि दूसरे गांव-नगर-प्रांत से लड़की खरीद कर लाई गई। यह लड़की घर में कोई रिश्ता नहीं बनाती है।

अगर हम कन्या भ्रूणहत्या नहीं करते हैं तो कन्या-हत्या तो करते ही हैं। जब हम उसे पूरा खाना नहीं देते हैं, उसकी खेलने-खाने-गाने की उम्र को खिलने नहीं देते हैं, उसे हर कदम पर यह अहसास कराते हैं कि वह दोगले दर्जे की है, कि उसकी घरेलू या सामाजिक भूमिका का कोई खास वजूद नहीं है।

इससे उसकी इज्जत या हैसियत तो जाती ही है, वह हमारे घर की लड़कियों, बहनों, मांओं को भी इसी स्तर पर खींच लाती है। यह समस्या का एक और पहलू है जो आमिर हमारे सामने रखते हैं। मतलब कन्या भ्रूणहत्या एक ऐसा अपराध है जो हमारे घर-समाज को भी अपने लपेटे में ले रहा है। लड़की को गर्भ में ही मार देने का यह चलन समाज को भी गर्भ में ही मार डालेगा— क्या यह हम देख पा रहे हैं?

इसी हिस्से में कुछ हंसी में ही लेकिन सलमान खान का संदर्भ लेकर आमिर यह कहते हैं कि सलमान की समस्या यह नहीं है कि उन्हें लड़की नहीं मिल रही है बल्कि उनकी

समस्या यह है कि उनके इर्द-गिर्द इतनी लड़कियां हैं कि वे किसे चुनें यही नहीं तय कर पा रहे हैं। लेकिन यह भी एक गहरी बीमारी का मंजर बताता है। लड़की अगर चुनने, छांटने, जांचने-परखने, मालिकी घोषित करने की वस्तु बनाई जाएगी तो पैदा की जाए या नहीं, इसके निर्णय का सिलसिला भी चलता ही रहेगा। सत्यमेव जयते का कोई एक रविवार इस पहलू को भी समेटे तो अच्छा होगा।

सत्यमेव जयते में यह देखने जैसा है कि ऐसा जो कर रहे हैं वे अनपढ़, अशिक्षित, गरीब, गांव वाले नहीं हैं। अपने कॉलर की सफेदी को सभ्यता व समझदारी का साइनबोर्ड समझने वाला हमारा समाज हर गहिरे प्रवृत्ति का ठीकरा इन्हीं के सर फोड़ता है। लेकिन आमिर बताते हैं कि यह अमानवी कृत्य शहरों से फैला है और पढ़े-लिखे परिवारों में सबसे विकराल स्वरूप में है। आमिर ने इस हैवानियत की शिकार हुई जितनी भी महिलाओं से हमें मिलवाया उनमें से कोई

भी गंवार नहीं थी; 'आदिवासी' बताए गए समाज से नहीं थी और किसी का भी परिवार अनपढ़-अशिक्षित नहीं था।

अब क्या हम इसमें से झांकती यह सच्चाई देख सकेंगे कि शिक्षा के नाम पर आज हमें जो मिल रहा है, वह कितनी गहरी कुशिक्षा है? अपने बच्चे को इस शिक्षातंत्र में भेजने के लिए हम क्या-क्या नहीं करते हैं। लेकिन दरअसल यह ऐसा कारखाना है जिसमें से निकलने वाला आदमी कई स्तरों पर पशुवत बन जाता है। राजस्थान के वे सारे डॉक्टर— महिला डॉक्टर भी— इसी शिक्षा में से पैदा हुए हैं, जिनका स्टिंग ऑपरेशन आमिर ने हमें दिखाया। और अदालत की ऊंची कुर्सी पर बैठा वह जज जिसकी टिप्पणियों का जिक्र कार्यक्रम के दौरान हमें सुनाया गया, वह भी तो इसी शिक्षा की पैदावार है; और सफल पैदावार है क्योंकि वह जज की कुर्सी तक पहुंचा है।

तब याद आता है कि महात्मा गांधी ने इस शिक्षा-प्रणाली के बारे में कितने कठोरतम शब्दों का इस्तेमाल किया है। हमें लगता है कि गांधी का ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है। जब वे वकील, डॉक्टर के पेशे को असामाजिक पेशा कहते हैं तब हमें उसे पचाना कठिन हो जाता है। आमिर के लिए भी यह संदर्भ समझ पाना आसान नहीं होगा। लेकिन सच यही है कि सत्यमेव जयते अगर सिद्ध होना है तो मनुष्य की भावनाओं का व्यापार बंद करना होगा— चाहे वह मनोरंजन का ही व्यापार हो जिससे

आमिर खुद भी जुड़े हैं। आगे भी आमिर ऐसे कई सवालों के साथ हमारे सामने आएंगे। हमें उन सबको समग्रता में देखना और समझना होगा।

और आखिरी बात! यह बात गांठ बांध लेने जैसी है कि कन्या भ्रूणहत्या को रोकना अगर कभी, कहीं संभव होगा तो उसी समाज में जो सजग है, सक्रिय है। यह हम हैं जो इसे चलने देते हैं और फिर किसी आमिर के सामने बैठकर आंसू बहाते हैं या हाथ लहराते हैं। ये आंसू भी और वे लहराते हाथ भी झूठे पड़ जाते हैं जब आप कदम नहीं उठा पाते। सत्यमेव जयते को हम इस खिड़की से देखें कि यह हमें आगे करता है, किसी सरकार या कानून को नहीं। हम सावधान

**यह बात गांठ बांध लेने
जैसी है कि कन्या भ्रूणहत्या
को रोकना अगर कभी, कहीं
संभव होगा तो उसी समाज में
जो सजग है, सक्रिय है। यह हम
हैं जो इसे चलने देते हैं और
फिर किसी आमिर के सामने बैठ
कर आंसू बहाते हैं या हाथ
लहराते हैं। ये आंसू भी और वे
लहराते हाथ भी झूठे पड़ जाते
हैं जब आप कदम नहीं उठा
पाते। सत्यमेव जयते को हम
इस खिड़की से देखें कि यह
हमें आगे करता है, किसी
सरकार या कानून को नहीं।**

व सक्रिय होंगे तभी इसे रोक सकेंगे। आमिर जब अपना प्रतिवेदन बनाएंगे और राजस्थान सरकार को भेंजेंगे तब-की-तब देखेंगे। आज-के-आज तो यह होना चाहिए न कि राजस्थान के लोगों का जुलूस मुख्यमंत्री के पास जा पहुंचे और उन्हें फास्टट्रेक कोर्ट बनाने व उन सारे डॉक्टरों की प्रैक्टिस पर निर्णय आने तक रोक लगाने की मांग करे, जिन्हें हमने स्टिंग ऑपरेशन में कन्या भ्रूणहत्या करते देखा है।

तो अपने आसपास, अगल-बगल, ऊपर-नीचे, दाएं-बाएं देखते रहें, सुनते रहें, सूंघते रहें कि कहीं कोई अपनी पत्नी, बहन, बेटी, बहू को सता तो नहीं रहा, धमका तो नहीं रहा, रुला तो नहीं रहा। गलती लड़की की भी हो सकती है लेकिन गलती हमारे सामने आनी चाहिए। अंधेरे में हम कुछ भी होते रहने नहीं देंगे। हमारे पड़ोस की क्लीनिक में बैठा डॉक्टर-नर्स-वार्डबॉय क्या कर रहा है, इस पर हमारी तीखी नजर होनी चाहिए। कोई कहेगा कि हम किसी के निजी मामले में, परिवार में कैसे दखल दे सकते हैं? जवाब वही है जो बांग्लादेश मुक्ति संग्राम के वक्त जयप्रकाश नारायण ने दिया था। पूछा था अमरीकियों ने कि भारत पाकिस्तान के आंतरिक मामले में कैसे दखल दे सकता है, तो जयप्रकाश ने कहा था: पड़ोस के घर में आग लगी हो और उसकी छत और हमारी छत आपस में जुड़ी हो तो वह आग पड़ोसी का आंतरिक मामला नहीं हो सकती है क्योंकि वह आग मेरी छत तक भी पहुंचने वाली है।

तुम अपने घर की दीवार के भीतर जो कर रहे हो वह हमारे समाज की दीवार को छूता है, उसे प्रभावित करता है तो वह तुम्हारा आंतरिक मामला नहीं है। तुम्हारे घर से उठने वाला शोर जैसे तुम्हारा आंतरिक मामला नहीं है, वैसे ही तुम्हारे घर से उठने वाली चीख या रुलाई भी तुम्हारा आंतरिक मामला नहीं है। इसलिए सुनो, समझो और इसमें दखल दो।

इस तरह हम देखेंगे सत्यमेव जयते तो यह शो भी और यह मेहनत भी जायज कहलाएगी।

राष्ट्रीय युवा संगठन के जनक श्री कुमार प्रशांत गांधी जैसे विचारों को युवा पीढ़ी तक पहुंचाने में एक शानदार पहल का काम करते हैं।



निरोगी काया

शुभू पटवा

जीवन के बहुश्रुत यानी कई बार सुने और कहे गए सात सुखों में 'पहला सुख निरोगी काया' बताया गया है। बाकियों पर फिलहाल कोई चर्चा न कर इस एक पर ही हम थोड़ा विचार करें।

ऐसा कह तो दिया है, पर ऐसा होने के लिए जो करना चाहिए— वह हम कितना करते हैं, कहा नहीं जा सकता। बेशक जो यह मानते हैं कि 'पहला सुख निरोगी काया' ही है, वे ऐसा आचरण करें तो करें, अधिसंख्य तो विपरीत ही चलते हैं। जिस भागम-भाग की यह जिंदगी बन गई है या बना ली गई है, उसमें निरोग रहने के लिए बुनियादी बिंदुओं को दूर छिटका दिया गया है और हम जिस चाल-ढाल में फंस गए हैं, उसमें निरोगी काया के लिए जो कुछ भी करना जरूरी है— वे दरकिनार हो चुके हैं।

जिन सात सुखों की बात कही गई है, उसके पहले सुख के इस वाक्यांश में शब्द आया है— 'काया'। शरीर नहीं कहा गया है। इसीलिए कि 'शरीर' तो पार्थिव है, स्थूल है। 'काया' शब्द में 'देह' और 'मन'— दोनों का समावेश है और सही ही है कि 'काया' का सुख ही 'पूर्ण सुख' है। दैहिक सुख तो भौतिक सुख ही है और आज इसी को 'पूर्ण सुख' की श्रेणी में मान लिया गया है। बहुत अंशों तक इसे विलासिता-सुख कहा जा सकता है। फ्रिज, मोटरकार, एयर कंडीशनर, वाशिंग मशीन, टेलीविजन अथवा अन्यान्य ऐसे उपकरण— जिनके होने से शरीर श्रम बचता हो और प्रकृति-जन्य स्थितियों से इतर-स्थिति बनाई जा सकती हो— तो ही आप संपन्न माने जाएंगे, सुखी कहलाएंगे। पर, दुर्भाग्य से ये सब संसाधन-उपकरण विलासिता-सुख ही देते हैं, काया को निरोगी नहीं रख सकते।

'काया' के निरोगी होने का तात्पर्य है— देह और मन, इन दोनों का निरोग रहना। है ही यही निरोग होना। आज शरीर को लगने वाली बीमारियों से कहीं अधिक परेशाननाक मन की बीमारियां हैं। मानसिक बीमारियों के पीछे सबसे बड़ा कारण प्रकृति-विरुद्ध जीवन है। विलासितापूर्ण जीवन-शैली ने जो व्याधियां पैदा

की हैं, उनकी रोकथाम दवाओं से संभव ही नहीं है। दवाएं तात्कालिक उपचार में सहायक भर हो सकती हैं। इसीलिए गांधीजी कहते हैं— “मैंने विलास किया, बीमार हुआ। डॉक्टर के पास गया, दवा खाई। स्वस्थ हो गया। फिर विलास किया, फिर डॉक्टर के पास गया, फिर दवा खाई। फिर स्वस्थ हो गया। फिर विलास किया...।” यह एक अंतहीन चक्र है। इससे छुटकारा नहीं छलावा मिलता है। कह सकते हैं कि मानसिक बीमारियों के लिए दवा से छुटकारा नहीं मिलता, अपितु यह भ्रम होता है कि हम स्वस्थ हो रहे हैं, हो गए हैं। यह छलावा-भर ही तो है।

हृदय रोग, रक्तचाप, मधुमेह, एड्स, अवसाद जैसी बीमारियां क्या इसीलिए नहीं हैं कि हम ‘शरीर-सुख’ को ही सर्वोपरि मान बैठे हैं और इसे पाने के लिए एक अंतहीन दौड़ में फंसते जा रहे हैं। यह ‘अंतहीन दौड़’ है दौलत के लिए,

**जिन सात सुखों की बात
कही गई है, उसके पहले
सुख के इस वाक्यांश में शब्द
आया है— ‘काया’। शरीर नहीं
कहा गया है। इसीलिए कि
‘शरीर’ तो पार्थिव है, स्थूल है।
‘काया’ शब्द में ‘देह’ और
‘मन’— दोनों का समावेश है
और सही ही है कि ‘काया’ का
सुख ही ‘पूर्ण सुख’ है।**

बाजार की गलाकाट स्पर्धा में किसी से पीछे न रहने के लिए। जिस ‘शरीर-सुख’ के लिए सब कुछ हो रहा है, दुर्भाग्य यह है कि उसे भी सुख नहीं मिल रहा। और ‘आत्मिक-सुख’ जैसी बात पर किसी प्रकार का गौर ही नहीं किया जा रहा। यह भी दुर्भाग्य ही है कि ‘आत्मा’ की बात आते ही, हममें से अधिसंख्य तो ‘धार्मिक-संकीर्णता’ के दायरे में खड़े कर दिए जाते हैं। ‘आत्मा’ और ‘मन’ भी कोई अवयव हैं और इसी देह का हिस्सा हैं— इस पर विचार ही नहीं हो रहा है।

हमारे यहां धर्मशास्त्रों और धर्म-दर्शन पर अपार चर्चाएं हुई हैं, पर वर्तमान समय में

धर्म और आरोग्य पर आचार्य श्री महाप्रज्ञजी ने जो सांगोपांग चर्चा की है— वह विरल है। उनकी एक कृति ‘महावीर का स्वास्थ्य शास्त्र’ तो है ही। जीवन-विज्ञान के जरिए व्याधियों के कारण और निदान पर भी जो कुछ आचार्य महाप्रज्ञजी ने कहा है, उस सब पर आरोग्य शास्त्रियों को गौर करना चाहिए और उस पर गहन मंथन भी होना चाहिए।

आयुर्विज्ञान के जगत में ‘ऐलोपैथि’ को संसार भर में जो प्रश्रय मिला है, उसके नतीजे पूरी दुनिया देख रही है। इस विधि ने ‘मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की’— उक्ति को चरितार्थ कर दिया है। ‘ऐलोपैथि’ में भी एक शाखा है— ‘प्रिवेंटिव एंड सोशल मेडिसिन’। पर यह विभाग हमारे देश में तो निचले दर्जे पर

पहुंचा दिया गया है। और, पश्चिम के देशों की बात करें तो दो उदाहरण सामने रख सकते हैं। एक है— इवान इलीच जैसे चिंतक का कथन। वे 'वर्तमान चिकित्सा पद्धति (एलोपैथि) को स्वास्थ्य का 'स्वत्वहरण' मानते हैं। उनकी पुस्तक 'लिमिट्स टू मेडिसिन, मेडिकल नेमसिस, द एक्सप्रोप्रिएशन ऑफ हेल्थ' में कहा गया है कि चिकित्सक और चिकित्सा-प्रणाली मिलकर ऐसे तंत्र का निर्माण कर रहे हैं, जो बीमारी को बढ़ाता है, समाज में रुग्णता का भाव उत्पन्न करता है, दवाओं पर निर्भरता से उद्धार का भ्रांति भरा विश्वास पैदा करता है और एक प्रकार से समाज के स्वास्थ्य का स्वत्वहरण ही कर लेता है।

दूसरी बात कवि-चिंतक स.ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' के हवाले से प्रस्तुत है— जर्मनी के हाइडलबर्ग विश्वविद्यालय के चिकित्सा संकाय की ओर से आयोजित एक परिसंवाद— 'चिकित्सा के

पुनर्मानवीकरण की आवश्यकता' विषय पर बोलते हुए वात्स्यायनजी अमेरिका के एक नामी अस्पताल का अनुभव बताते हैं। उनको छाती में दर्द की शिकायत हुई और जांच के लिए वहां से समय मांगा। दर्द से तीन महीने बाद जांच का समय उनको दिया गया। वात्स्यायनजी बताते हैं कि तकलीफ मुझे आज है, पर उपचार के लिए समय तीन माह बाद का मिलता है। वे यह सोचते हुए वहां चले जाते हैं कि नामी अस्पताल का कुछ अनुभव हो जाएगा। उस अस्पताल में उनकी कोई तीस तरह की जांच होती है। पर किसी आदम-जाति से उनका कोई वास्ता नहीं पड़ता। डॉक्टर से बिना मुलाकात हुए उनसे कहा जाता है कि वे घर जा सकते हैं। वात्स्यायन कहते हैं— 'क्या हमारा पूरा समाज फिर से कम-से-कम कुछ पेशों और सेवाओं में उस कारुण्य अथवा मानव-सेवा-भाव की प्रतिष्ठा करने को तैयार है, जिनके बिना मनुष्य मनुष्य नहीं है?

यह संस्कार की बात है। हमारे यहां कभी ये संस्कार रहे हैं। तब कारुण्य भी रहा और मनुष्य की अस्मिता भी रही। आज सब कुछ यंत्रीकृत है। जिन तीस तरह की जांचों की बात ऊपर बताई गई, वह सब चिकित्सा-यंत्रों से हुई और विचित्र बात यह कि वहां किसी चिकित्सक से साबका नहीं पड़ा। इसीलिए कहा गया कि कुछ पेशों और सेवाओं में मानव-सेवा-भाव की प्रतिष्ठा हो। यह तो हो ही, पर यही भर पर्याप्त नहीं माना जा सकता। हमारी दृष्टि समग्रता से देखने की होनी चाहिए।

“मैंने विलास किया, बीमार हुआ। डाक्टर के पास गया, दवा खाई। स्वस्थ हो गया। फिर विलास किया, फिर डाक्टर के पास गया, फिर दवा खाई। फिर स्वस्थ हो गया। फिर विलास किया...।” यह एक अंतहीन चक्र है। इससे छुटकारा नहीं छलावा मिलता है।

इसी संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञजी कहते हैं— ‘हम अधिकांशतः चिकित्सा के क्षेत्र में बाह्य हेतुओं पर ही ज्यादा ध्यान देते हैं। बाह्य व अंतरंग— दोनों हेतु होते हैं। बीमारी का बाहरी हेतु हमारे सामने स्पष्ट है। इसके साथ अंतरंग हेतु पर भी ध्यान दें।’ आचार्य महाप्रज्ञजी इसे आगे बढ़ाते हुए कहते हैं— ‘मन और भावना पर विचार करते हैं तो अनेक रोगों की गहराई तक पहुंचने का अवसर

वे ‘वर्तमान चिकित्सा पद्धति (एलोपैथि) को स्वास्थ्य का ‘स्वत्वहरण’ मानते हैं। उनकी पुस्तक ‘लिमिट्स टू मेडिसिन, मेडिकल नेमसिस, द एक्सप्रोप्रिएशन ऑफ हेल्थ’ में कहा गया है कि चिकित्सक और चिकित्सा-प्रणाली मिलकर ऐसे तंत्र का निर्माण कर रहे हैं, जो बीमारी को बढ़ाता है, समाज में रुग्णता का भाव उत्पन्न करता है, दवाओं पर निर्भरता से उद्धार का भ्रांति भरा विश्वास पैदा करता है।

मिल सकता है। ... जिसका मनोबल प्रबल है, जिसमें आत्मा की पवित्रता है— वह अल्प समय में रोग पर विजय पा लेता है। ... केवल रोग के आधार पर चिकित्सा नहीं हो सकती। समग्रता की दृष्टि से दोनों को एक साथ देखना होता है। रोगी का शरीर कैसा है, उसकी प्राणशक्ति कैसी है, उसका आध्यात्मिक बल कैसा है, उसका कर्म-शरीर कैसा है, भाव कैसा है, मन का बल कैसा है? इन सबको मिलाकर निर्णय हो तो, वह निर्णय समीचीन होगा।

लेकिन, हम हैं कि शरीर की परिधि से बाहर ही नहीं जाते। शरीर पर ही टिके हैं। इसीलिए कष्ट पा रहे हैं। यह जरूरी है कि शरीर के साथ आत्मा को भी देखें, उसे भी जोड़ें। आत्मा को देखने से ही शांति, सुख और आरोग्य पा सकते हैं। मात्र भौतिक सुखोपयोग और भौतिक ऊंचाइयां छूने से हमें शांति मिल सकेगी, ऐसा सोचना वृथा है। ‘निरोगी काया’

के लिए जो होना चाहिए, वैसा आत्मबोध जगे, हमारा स्वभाव और हमारे संस्कार निर्मल हों— ऐसा आत्मज्ञान ही हमें ‘निरोगी काया’ की राह दिखा सकता है।

जैन भारती से साभार।

लेखक, पत्रकार, संपादक और साथ ही पर्यावरणविद श्री शुभू पटवा मरुभूमि के भीनासर गांव में चले प्रसिद्ध गोचर आंदोलन के संयोजक रहे हैं। जैन भारती पत्रिका के मानद संपादक हैं।



पहाड़ के माथे पर हरा तिलक

श्रीपद्रे

दक्षिण कन्नड़ के किसान महालिंग नाईक पोथी वाली इकाई-दहाई तो नहीं जानते लेकिन उन्हें पता है कि बूंदों की इकाई-दहाई, सैकड़ा-हजार और फिर लाख- करोड़ में कैसे बदल जाती है।

58 साल के अमई महालिंग नाईक स्कूल कभी गए ही नहीं। उनकी शिक्षा दीक्षा और समझ खेतों में रहते हुए ही बनी और संवरी थी। इसलिए वर्तमान शिक्षा प्रणाली के वे घोषित निरक्षर हैं। लेकिन दक्षिण कन्नड़ जिले के अडयानडका में पहाड़ी पर 2 एकड़ की जमीन पर जब कोई उनके पानी के काम को देखता है तो यह बताने की जरूरत नहीं रह जाती कि केवल गिटपिट रटंत विद्या ही साक्षरता नहीं होती। असली साक्षरता तो प्रकृति की गोद में प्राप्त होती है और इसमें तो हमारे ये महालिंग नाईक पीएचडी से कम नहीं। पानी का जो काम उन्होंने अपने खेतों के लिए किया है उसमें कठिन श्रम के साथ-साथ दूरदृष्टि और पर्यावरण का एक सुंदर दर्शन साफ झलकता है।

पहले इस पहाड़ी पर केवल सूखी घास दिखाई देती थी। श्री नाईक की इस बात में कुछ भी अतिरेक नहीं है। आसपास के इलाकों में फैली वैसी ही सूखी घास उनकी बात की तस्दीक करती है। महालिंग तो किसान भी नहीं थे। सबसे होश संभाला नारियल और सुपारी के बगीचों में मजदूरी करते थे। मेहनती थे और ईमानदार भी। किसी ने प्रसन्न होकर कहा कि ये लो 2 एकड़ जमीन और इस पर अपना खुद का कुछ काम करो। यह कोई 1970-72 की बात होगी। उन्होंने सबसे पहले वहां एक झोपड़ी बनाई और पत्नी बच्चों के साथ वहां रहना शुरू कर दिया। यह जमीन पहाड़ी पर थी और मुश्किल में बड़ी मुश्किल यह कि ढलान पर थी। एक तो पानी नहीं था और पानी आए भी तो रुकने की कोई गुंजाइश नहीं। फसल के लिए इस जमीन पर पानी थामना बहुत जरूरी था।

पानी रुके इसके लिए पानी का होना जरूरी था। अब मुश्किल यह थी कि पानी यहां तक लाया कैसे जाए? कुआं खोदना हो तो उसके लिए बहुत पैसे चाहिए थे, क्योंकि यहां से पानी निकालने के लिए गहरी खुदाई करनी पड़ती। फिर खतरा यह भी था कि इतनी गहरी खुदाई करने के बाद वह कुआं पानी निकलने से पहले ही बैठ भी सकता था। इसलिए कुएं की बात सोचना संभव नहीं था। तभी अचानक उन्हें पानी की सुरंग का ख्याल आया।

गांव वाले तो कहते थे महालिंग व्यर्थ की मेहनत कर रहा है। लेकिन महालिंग को गांव के लोगों की आलोचना सुनाई तक नहीं देती थी। असफल होने का डर भी उन्हें नहीं लगता था। हां वे चार बार असफल भी रहे। सुरंग बनाई। लेकिन पानी नहीं मिला। मेहनत बेकार चली गई। लेकिन महालिंग ने हार नहीं मानी। वे लोगों से कहते रहे कि एक दिन ऐसा आएगा जब मैं यहीं इसी जगह इतना पानी ले आऊंगा कि यहां हरियाली का वास होगा। नियति ने उनका साथ दिया।

अब यही एक रास्ता था कि सुरंग के रास्ते पानी को यहां तक लाया जाए। पानी की सुरंग बनाने के लिए बहुत श्रम और समय चाहिए था। दूसरा कोई तो शायद हाथ खड़े कर देता लेकिन महालिंग नाईक ने दूसरों के खेतों पर अपनी मजदूरी भी जारी रखी और अपने खेत पर सुरंग खोदने के काम पर लग गए। वे किसी भी तरह पानी को अपने खेतों तक लाना चाहते थे। उनका सपना था कि उनके पास जमीन का ऐसा हरा-भरा टुकड़ा हो जिस पर वे अपनी इच्छा के अनुसार खेती कर सकें। इस काम में वे अकेले ही जुट गए। काम चल पड़ा लेकिन अभी भी उन्हें नहीं पता था कि पानी मिलेगा या नहीं?

गांव वाले तो कहते थे महालिंग व्यर्थ की मेहनत कर रहा है। लेकिन महालिंग को गांव के लोगों की आलोचना सुनाई तक नहीं देती थी। असफल होने का डर भी उन्हें नहीं लगता था। हां वे चार बार असफल भी रहे।

सुरंग बनाई। लेकिन पानी नहीं मिला। मेहनत बेकार चली गई। लेकिन महालिंग ने हार नहीं मानी। वे लोगों से कहते रहे कि एक दिन ऐसा आएगा जब मैं यहीं इसी जगह इतना पानी ले आऊंगा कि यहां हरियाली का वास होगा। नियति ने उनका साथ दिया।

पांचवीं बार वे पानी लाने में सफल हो गए। पानी तो आ गया। अब अगली जरूरत थी जमीन को समतल करने की। यह काम भी उन्होंने अपने दम पर अकेले ही किया। उनकी इस मेहनत और जीवट का परिणाम है कि आज वे 300 पेड़ सुपारी और 40 पेड़ नारियल के मालिक हैं। समय लगा, श्रम लगा लेकिन

परिणाम न केवल उनके लिए सुखद है बल्कि पूरे समाज के लिए भी प्रेरणा है।

पांचवीं सुरंग की सफलता के बाद उन्होंने एक और सुरंग बनाई जिससे मिलने वाले पानी का उपयोग घर बार के काम के लिए होता है। सुरंग के पानी को संभालकर रखने के लिए उन्होंने तीन हौदियां बना ली हैं।

नाईकजी ने माटी के रखरखाव, पत्थरों का जो काम अकेले किया है उसको करने के लिए आज के समय में कम से कम 200 आदमी चाहिए। एक बार खेत को समतल करने के बाद उस माटी को रोकना बहुत जरूरी था। इस काम के लिए पत्थर चाहिए था। आसपास आधे किलोमीटर में कहीं पत्थर नहीं था।

घाटी से काम करके लौटते समय वे प्रतिदिन अपने सिर पर एक पत्थर लेकर लौटते थे। रोज लाए गए एक-एक पत्थर को जोड़-जोड़कर उन्होंने अपने सारे खेतों की मेड़बंदी कर दी। माटी के बहाव का खतरा खत्म हो गया।

महालिंग नाईक अपने से कुछ भी कहने में सकुचाते हैं। कम बोलते हैं। चुपचाप अपने काम में लगे रहते हैं। दूसरों के लिए उदाहरण बन चुके महालिंग नाईक कर्ज लेने में विश्वास नहीं करते। वे मानते हैं कि जितना है, उतने में ही संयमित रूप से गुजारा करना चाहिए। हां एक बार घर बनाने के लिए गांव की बैंक से 1000 रुपए कर्ज लिया था। दक्षिण में कर्ज लेकर अमीर बनने का सपना पालते किसानों के लिए महालिंग चुपचाप बहुत कुछ कह रहे हैं। अगर लोग सुनना चाहें तो। चारों तरफ सूखे से घिरे इस पहाड़ी के माथे पर महालिंग ने पानी और अपनी मेहनत से हरियाली का एक सुंदर तिलक लगा दिया है।

**दक्षिण में कर्ज लेकर
अमीर बनने का सपना
पालते किसानों के लिए
महालिंग चुपचाप बहुत
कुछ कह रहे हैं। अगर
लोग सुनना चाहें तो।**

श्री श्रीपद्रे 'आदिके पत्रिके' नामक कृषि पत्रिका के मानद संपादक रहे हैं। कन्नड़, मलयालम और अंग्रेजी में ऐसे विषयों पर लिखते हैं, जिन्हें प्रायः अन्य पत्रकार हाथ भी नहीं लगाते।



पुराना चावल

कुर्ते के संग आंख-मिचौनी

जीवन नायक

धोती-कुर्ता बिलकुल नहीं चलेगा। यह भला कहां का आदेश? कब का आदेश होगा ऐसा? आजादी मिले अभी कुछ ही समय हुआ था। जो लोग इस आजादी के लिए लड़े थे, उन्हीं में से कुछ सरकार में गए थे, कुछ सरकार चलाने वाले प्रशासन में। दोनों की पोशाकें एक-सी ही तो थीं। पर अब ये दो अलग-अलग बातें बन गई थीं। एक बन गए जनता के सेवक। और दूसरे रह गए बस सरकार के नौकर। तो फिर से एक ही पोशाक में कैसे दिखेंगे? सरकार ने बाकायदा परिपत्र निकाल कर अपने नौकरों में घुमा दिया कि खबरदार जो तुम भी धोती कुर्ते में दिखे।

साठ-पैंसठ साल पहले मध्यप्रदेश में स्कूल के विद्यार्थियों की पोशाक का अनिवार्य अंग हुआ करती थी—टोपी। गोल हो या लंबी, टोपी के बिना कक्षा में प्रवेश निषिद्ध था। निकर और कमीज पहनने वालों पर टोपी की पाबंदी नहीं होती थी तो भी लंबे बालों के लिए यह कवच का काम तो देती ही थी, वर्ना बालों को खींचकर चपतियाए जाने का डर बना रहता था। अधिकतर लड़के टोपी पहनकर ही स्कूल आते थे। कमीज, हाफ-पैंट या धोती और टोपी यही सामान्य पहनावा होता था। जो कोट पहनकर आते उन्हें इस बात का ध्यान रखना पड़ता कि कोट के सारे बटन बंद हों अन्यथा अंग्रेजी में इस फटकार से बचना मुश्किल होता था— ‘बटन-अप योर कोट’। शिक्षक कम से कम डांटते समय अंग्रेजी बोलना पसंद करते थे। आजाद हुए अभी दिन ही कितने हुए थे।

प्रधान अध्यापक तथा शिक्षक-गण धोती या पतलून के साथ कोट पहना करते थे। ‘टाई’ बांधने वाले कम थे। गामा पहलवान को छोड़कर स्कूल में कुर्ता पहनकर आते हमने किसी को नहीं देखा, न पाजामा पहनकर। रेशम का या मलमल का कुर्ता उन दिनों शौकीनों की पोशाक समझा जाता था।

छठवीं कक्षा में 'मानीटर' की हैसियत से मैं आगे वाली 'डुअल डेस्क' पर बैठता था। बाजू में बैठते थे— गजराजसिंह। उच्चारण-दोष के कारण गजराज 'र' को 'व' बोलते थे। अपने नाम के आगे वे 'चौधरी' शब्द का इस्तेमाल तमगे की तरह करते थे यानी पूरा नाम 'चौधरी गजराजसिंह' बताने पर सुना जाता 'चौधरी गजवाज सिंह!' पिता मारुतिराज सिंह के लाड़ले पर मातृविहीन गजराज, बुआ और नौकरों के संरक्षण में रहते और शहर में पढ़ते थे। जमींदार मारुतिराज लंबा कुर्ता पहनते, गले में 'उपरणा' डालते और गांव तथा शहर की दूरी बड़ी शान के साथ घोड़े पर तय किया करते थे। इस बार आए तो बेटे की जिद पर उसे बढ़िया कुर्ता सिलवा गए। गजराज कक्षा में आए दिन अपने नए कुर्ते का जिक्र करते, उसकी चिकनाहट का बखान करते न अघाते और इस अफसोस के साथ होली के दिन गिनते कि कुर्ता पहिनने के लिए जल्द-से-जल्द आने वाला त्योहार होली ही पड़ेगा।

मेरे प्रति गजराज के मृदुल-भाव का प्रमुख कारण यह था कि 'होमवर्क' के लिए वे दोपहर की छुट्टी में बहुधा मेरे बस्ते की तलाशी ले लिया करते थे। एक दिन कक्षा में हिन्दी से अंग्रेजी में अनुवाद के लिए अभ्यासार्थ वाक्य तख्ते पर लिखे गए थे। गजराज की बारी आई तो उनके हिस्से में वाक्य आया— 'यह मेरे पिता का घोड़ा है। अपनी 'नोटबुक' में उन्होंने लिखा, दिस हार्स इज माई फादर्स' परंतु उनके उच्चारण-दोष के कारण वाक्य में आए दोनों 'रकार' स्पष्ट नहीं सुने गए। जो सुना गया उसका मतलब यों

निकाला गया- 'यह घोड़ा मेरा बाप है!' (दिस हार्स इज माई फादवस) बस। सारी 'क्लास' खिलखिला उठी। गजराज का मुंह उतर गया और आंखें नम हो आईं। मुझसे रहा न गया। मैंने गजराज की 'नोट-बुक' फुर्ती से शिक्षक के आगे सरका दी। गजराज की खिल्ली उड़ाने के लिए उन्होंने पूरी 'क्लास' को लताड़ा और कहा— 'ज्यादा अच्छा अनुवाद होता— 'दिस इज माई फादर्स हार्स।'

उस दिन के बाद गजराज मेरे प्रति अधिक स्नेहशील हो गए थे। बहुत मान देने लगे और होली के दिन अपने घर ले गए। हठ करके अपना नया कुर्ता मुझे पहनाया और बुआजी की तरफ देखकर बोले— 'देखिए। मैं कहता था न, एकदम 'फिट्'। खूब फबता है। अब इन्हीं का है। है न बुआजी?

स्कूल तथा बाहर घूमने-फिरने की हमारी पोशाक एक-सी होती थी। कमीज, कोट, धोती, टोपी और बिना बंध का जूता या चप्पल। खादी की किश्तीनुमा गांधी-टोली, बिना आस्तीन की बटन वाली जवाहर जाकेट और नेहरू-शर्ट तक लंबे कुर्ते का चलन उन्हीं दिनों हुआ था। देखादेखी हमें भी कुर्ता पहनने का शौक चर्राया।

तरह-तरह के रंगों और गुलाल में तरबतर जब तीसरे पहर हम लोग होली खेलकर लौटे तो चौधरी मारुतिराज एकाएक सामने पड़ गए। घोड़े पर बैठे-ही-बैठे उन्होंने हमारे सिर थपथपाए और लड्डू खिलाए। गजराज के कुर्ते को पहचानकर मुझसे बोले— 'किसी और दिन पहन लिया होता बरखुर्दार। अब तो चटख रंग चढ़ गए। छूटेंगे नहीं। घर पहुंचकर मैंने सारा हाल मां से कहा। वे समझ गई कि चौधरी की बात मुझे बुरी लगी है। उन्होंने समझाकर कहा— 'पहले रंग और गुलाल से ही होली खेलने का चलन था। लोग बड़ी हुस्ब से नए कपड़े

पहनकर निकलते थे। अब तो कीट, कोलतार और कीचड़। आज के दिन के लिए रद्दी-से रद्दी कपड़े रख छोड़ते हैं। चौधरी ने गलत क्या कहा? छोटी-सी बात पर मन बिगाड़ना ठीक नहीं। मन में भगवान बसते हैं। जरा देखो तो; बाहर कौन आया है। गांव से आए छोलिए देने और नहा-धोकर मां को प्रणाम करने गजराज आया था। स्कूल के बाद हमारा साथ छूट गया था पर होली के दिन उसकी याद आए बिना नहीं रहती।

सन् '34 में नवमी कक्षा में पहुंचा तो जाने पहचाने परिवारों के कुछ लड़कों का साथ हो गया। उनमें कांग्रेस के हिन्दी-प्रेमी नेता बाबू गोविन्ददास के पुत्र जगमोहनदास

इस ऐतिहासिक अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष थे बाबू गोविन्ददास। उन्होंने हमारे प्रिंसिपल महोदय से अनुरोध किया कि ठीक ठाक अंग्रेजी बोल सकने वाले कुछ विद्यार्थियों को छांटो और उनकी सूची बनाकर कांग्रेस सेवा दल के एडजुटेंट जनरल को भेजो। इस सूची में मेरा भी नाम आ गया था।

भी थे। जगमोहन 'फिटिन' पर आते-जाते थे। साथ होते थे भगवानदास, पुरुषोत्तम, लखनलाल और मैं। पारिवारिक निकटता, स्वभावों की अनुकूलता अथवा अभिरुचियों की समानता, जो भी रही हो— हम पांचों में प्रगाढ़ मैत्री होते बहुत समय नहीं लगा। छुट्टी के दिनों में और वैसे भी, हम सब साथ ही रहते थे। स्कूल तथा बाहर घूमने-फिरने की हमारी पोशाक एक-सी होती थी। कमीज, कोट, धोती, टोपी और बिना बंध का जूता या चप्पल। खादी की किश्तीनुमा गांधी-टोली, बिना आस्तीन की बटन वाली जवाहर जाकेट और नेहरू-शर्ट यानी घुटनों तक लंबे कुर्ते का चलन उन्हीं दिनों हुआ था। देखादेखी हमें भी कुर्ता पहनने का शौक चर्चया। हम सबने रेशमी कुर्ते सिलवाए। समस्या थी कि कुर्ते पहनकर बब्बा साहब (बाबू गोविन्ददास के पिता, दीवान बहादुर, सेठ जीवनदास) के सामने कैसे निकला जाए? वे उस जमाने तक कुर्ते को भले आदमियों का पहनावा मानने को तैयार नहीं थे! कुर्ते तैयार थे फिर भी उनको पहनने का हमारा

चाव पूरा नहीं हो पा रहा था। बब्बा साहब का घर और बाहर एक-सा आतंक था। हम लोग उनसे यों भी सहमे-सहमे रहते थे। हमारी हरकतों पर उनका ध्यान लगा ही रहता था। आखिर एक दिन हिम्मत करके हमने कुर्ते पहन ही लिए और एक निरापद मुहूर्त पर घूमने निकल पड़े। शाम को लौटे तो बब्बा साहब सामने! हम पर घड़ों पानी पड़ गया। सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। उस दिन जो बीती वह बयान के बाहर है क्योंकि:

‘उस काल मारे क्रोध के तनु कांपने उनका लगा,
मानों हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा।’

उस घटना का असर हम पर कई दिनों तक रहा। बहस का भरपूर मसाला हमें मिल गया था। हम लोगों के बीच देश के वस्त्र व्यवसाय की चर्चा चलती रही। तनीदार अंगरखा और अचकन, ‘डबल-ब्रेस्ट’ और ‘परशियन’ कोट, चौड़ी और तंग मुट्ठी की पतलूनें, ढीले और चूड़ीदार पाजामें, कलीदार और कामदार कुर्ते— गरज यह कि तरह-तरह के वस्त्रों को पहनने के फायदे, नुकसान और अवसर गिनाए गए। उस पौराणिक उपाख्यान की ओर भी ध्यान गया जिसमें पीताम्बरधारी विष्णु को समुद्र ने कन्या दे दी थी और दिगंबर शिव को विष दे दिया था। (पीताम्बरं वीक्ष्य द दौ तनूजाम् दिगम्बरं वीक्ष्य विषम् समुद्रः) हमारी बातें इस तथ्य पर पहुंचकर समाप्त हो गई थीं कि पोशाक का भान सारी दुनिया में होता है और परिधान से व्यक्ति की पहचान हो ही जाती है। शेक्सपियर ने भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया है— ‘एप्रैल ऑफ्ट प्रोक्लेम्स द मैन।’

अखिल भारतीय कांग्रेस का 52 वां अधिवेशन 1939 में जबलपुर के निकट त्रिपुरी में आयोजित होना था। अपनी और उत्सव की शोभा बढ़ाने के विचार से खदर का कुर्ता-पाजामा या धोती और गांधी-टोपी बहुतों को जरूरी जान पड़ी। शुभ अवसर के लिए खादी का कुर्ता मैंने भी

अखिल भारतीय कांग्रेस का
52 वां अधिवेशन 1939 में
जबलपुर के निकट त्रिपुरी में
आयोजित होना था। अपनी और
उत्सव की शोभा बढ़ाने के विचार
से खदर का कुर्ता-पाजामा या धोती
और गांधी-टोपी बहुतों को जरूरी
जान पड़ी। शुभ अवसर के लिए
खादी का कुर्ता मैंने भी सिलवाकर
रख लिया था। पर देखिए संयोग!
इस ऐतिहासिक अधिवेशन के
स्वागताध्यक्ष थे बाबू गोविन्ददास।
उन्होंने हमारे प्रिंसिपल महोदय से
अनुरोध किया कि ठीक ठाक
अंग्रेजी बोल सकने वाले कुछ
विद्यार्थियों को छांटो और उनकी
सूची बनाकर कांग्रेस सेवा दल के
एडजुटेंट जनरल को भेजो।
इस सूची में मेरा भी नाम
आ गया था।

सिलवाकर रख लिया था। पर देखिए संयोग! इस ऐतिहासिक अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष थे बाबू गोविन्ददास। उन्होंने हमारे प्रिंसिपल महोदय से अनुरोध किया कि ठीक ठाक अंग्रेजी बोल सकने वाले कुछ विद्यार्थियों को छांटो और उनकी सूची बनाकर कांग्रेस सेवा दल के एड्जुटेंट जनरल को भेजो। इस सूची में मेरा भी नाम आ गया था।

फिर कुछ दिनों बाद ए.ज. के कार्यालय से जो पत्र मेरे पते पर आया, उसका सार यह निकला कि अधिवेशन में पधारने वाले और हिन्दी न जानने वाले नेताओं की सेवा और सहायता के लिए कुछ ऐसे स्वयंसेवकों की आवश्यकता है जो उनसे अंग्रेजी में सहजता से बातचीत कर सकें। पत्र में लिखा था कि अपने प्रिंसिपल महोदय का आदेश समझकर मुझे नियत स्थान और समय पर दो सप्ताह की 'ट्रेनिंग' के लिए हाजिर हो जाना चाहिए। यह भी स्पष्ट किया गया था कि सेवा के ऐसे अवसर बार-बार नहीं आते यानी आनाकानी या बहानेवाजी की कोई गुंजाइश नहीं थी।

अब मुझे जाना ही था। ट्रेनिंग हो गई हमारी। ट्रेनिंग के बाद एक जोड़ी खाकी हाफ-पैंट और हाफ-शर्ट, घुटनों तक जुराबें, बंधदार काले जूते और हरे रंग का एक स्कार्फ लेकर मैं लौटा। दूसरे दिन 'यूनीफार्म' पहनकर सेवा-दल के प्रमुख के समक्ष उपस्थित हुआ और उनसे आवश्यक निर्देश प्राप्त किए।

अगले दिन सीमांत गांधी, भारत-कोकिला सरोजिनी नायडू, शरत्चन्द्र और सुभाष बाबू के 'कैम्प' पर मेरी ड्यूटी लगी। ड्यूटी तो गांधीजी के पास भी लगी थी पर उनकी सेवा का अवसर नहीं मिला। वे अधिवेशन में नहीं पधारे। इन सब नेताओं को उनकी पसंद के अखबार पहुंचाना और जलपान में वे जो लेना चाहें, इसकी सूचना भोजनालय तक पहुंचाना— सुबह की ड्यूटी में यही मुख्य काम रहते थे।

सुभाष बाबू के पास की 'ड्यूटी' जरा कुछ सख्त थी क्योंकि वे बीमार थे। उन्हें तपेदिक हो गया था। लेते ही रहते थे और पंडाल में 'स्ट्रेचर' पर लाए जाते थे। शरत बाबू की दो बेटियां बारी-बारी से उनके पास मौजूद रहती थीं। हम स्वयंसेवकों का काम होता था, दवाएं और जरूरी सामान लाना, डॉक्टर को बुलाना या उनको डॉक्टर के पास ले जाना। एक एम्बुलेंस चौबीसों घंटे उनके लिए तैनात रहती थी। अधिवेशन की कार्यवाही शुरू होने के घंटा-भर पहले पूर्व-दिशा के मुख्य-द्वार पर उपस्थित रहकर मुझे सम्मेलन के प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर एक रजिस्टर पर लेना होता था। यानी बड़े-बड़े नेताओं को नजदीक से देखने का मौका दिन में दो-तीन बार मिल ही जाता था। यदि किसी ने एकाध बात पूछ ली तो फिर क्या कहना? फूला न समाता। धन्य हो जाता था!

बैठक की कार्यवाही चालू हो जाने पर दो घंटे की छुट्टी मिलती थी। उस बीच मेरी जगह पर दूसरा स्वयंसेवक उपस्थित रहता था। स्वयंसेवक की वर्दी में होने के कारण पहले दिन 52 हाथियों के जुलूस को एकदम पास से देखने का मौका मिल गया था। बहुतेरे नेताओं के दर्शन तब भी हो गए थे। पर 'ड्यूटी' पर रहते हुए बात कुछ और होती थी। गरुता का एक अस्पष्ट भाव चित्त को आह्लादित किए रहता था। वर्दी में सारे पंडाल और पूरे कांग्रेस-नगर में कहीं भी, बेरोकटोक आने-जाने की छूट थी और बिना परिचय के हर खासोआम से एक रिश्ता अनायास ही कायम हो जाता था। कुर्ता पहनकर, मुंह उठाए, मारे-मारे फिरने से वह हरगिज नसीब न होता। होता क्या?

इसी उधेड़बुन में जब थका-मांदा डेरे पर पहुंचता तो एक हसरत भरी निगाह अपने उस कुर्ते पर जरूर डाल लेता और धूल झाड़कर सहलाते हुए उसे जहां का तहां धर देता था। अधिवेशन के दौरान लगभग यही क्रम रहा।

फिर वह दिन भी आया जब 'जयहिन्द' कहकर लोग एक दूसरे से विदा लेने लगे। जबलपुर के वरिष्ठ कांग्रेसी नेता, जार्ज डिसिल्वा महोदय के आग्रह पर अधिकांश नेतागण, विशेष रेलगाड़ी पर सवार होकर जबलपुर की बड़ी स्टेशन पर उतरे और मिनटों में डॉ. डिसिल्वा के समीपस्थ निवास पर जलपान के लिए पहुंच गए। पंडित नेहरू जैसे चोटी के नेताओं के बीच मैं तब भी स्वयंसेवक की भांति सेवा और सहायता में तत्पर था। पर अब मेरा वेश बदल गया था। तेवर भी कुछ बदले हुए थे, क्योंकि यूनीफार्म में न होते हुए भी उन सभी ने मुझे पहचाना और अभिवादन स्वीकार किया, जिनसे पिछले हफ्ते नित्य मिलता था। शरत बाबू की बेटियों ने इशारे से पास बुलाया और कुर्ता-धोती पहने देखकर कहा— खूब-भालो! कुर्ते को लेकर फिर कोई पछतावा शेष नहीं था।

सन् 42 में दूसरा विश्व-युद्ध जोरों पर था। देश में गैर-सैनिक अमले की मांग बढ़ रही थी। बी.ए.पास करते ही नौकरी मिल गई। मैं स्थानीय गोला-बारूद डिपो में असैनिक-पर्यवेक्षक की तरह नियुक्त हो गया। आने-जाने का समय

**अगले दिन सीमांत गांधी,
भारत-कोकिला सरोजिनी
नायडू, शरतचन्द्र और सुभाष
बाबू के 'कैम्प' पर मेरी ड्यूटी
लगी। ड्यूटी तो गांधीजी के पास
भी लगी थी पर उनकी सेवा का
अवसर नहीं मिला। वे
अधिवेशन में नहीं पधारे। इन
सब नेताओं को उनकी पसंद के
अखबार पहुंचाना और जलपान
में वे जो लेना चाहें, इसकी
सूचना भोजनालय तक
पहुंचाना सुबह की ड्यूटी में
यही मुख्य काम रहते थे।**

जोड़कर कुल चौदह घंटे। सुबह आठ से रात दस! समय पर न पहुंच पाता तो फाटक बंद और पूरे दिन की गैर-हाजिरी! ठीक आठ बजे प्रवेश द्वार पर पहुंचकर अपने पहचान कार्ड पर अधिकारी की सही कराना; भांति-भांति के अस्त्रों में भारी बारूद के तीखे और कसैले झोंके झेलते हुए पांच तहखाने खोलना, तीन सौ साठ प्रकार के छोटे-छोटे आयुधों के आगम-निर्गम और रख-रखाव की व्यवस्था करना; प्रत्येक मारक-अस्त्र के कारतूस को सैनिक की भांति स्पर्श-मात्र से पहचानना; हैंड ग्रेनेड तथा 'सेफ्टी मैच फ्यूज' जैसी अति संवेदी सामग्री को रेल पर चढ़ाते-उतारते समय स्वयं मौजूद रहना; मातहत 'लीडिंग हैंड्स' तथा अन्य कर्मचारियों को संभावित खतरों से आगाह करना तथा विभिन्न श्रेणी के ब्रिटिश सैनिक अफसरों से तालमेल करके सारे प्रेषणीय माल को हर सूरत में चौबीस घंटों के भीतर यथास्थान खाना करना— डिपो में ये सारे काम करते हुए मुझे विश्वास हो गया था कि अनुकूलन-क्षमता में दुनिया की कोई जाति इन अंग्रेजों का मुकाबला नहीं कर सकती वरना मेरे जैसे गैर-सैनिक के लिए वहां की भागमभाग, उठा-पटक, मुस्तैदी और घनिष्ठता कैसे शक्य होती? कुर्ता-धोती जैसी ढीली-ढाली पोशाक में तो कदापि नहीं। 'हाफ-पैंट' और 'हाफ-शर्ट' ने बखूबी काम दिया। एक बार फिर त्रिपुरी कांग्रेस वाला खादी का कुर्ता विशेष अवसरों के लिए रख छोड़ना पड़ा।

'एम्प्लूनीशन डिपो' की नौकरी में जल्द ही छठी का दूध याद आ गया था। अगस्त-आंदोलन की सरगर्मी शांत होते-होते पता चला कि महाराष्ट्र हाई स्कूल में संस्कृत-शिक्षक का एक पद रिक्त है। वहां की प्रबंधकारिणी में अधिकतर मेरे गुरुजन ही थे। संयोगवश उन्होंने ही बुला भेजा। यह सोचकर मुझे बड़ी सांत्वना मिली कि शिक्षक-उम्मीदवार के नाते निजी तौर पर आगे की पढ़ाई का रास्ता भी खुल जाएगा। लेकिन एक कठिनाई फिर सामने आ गई। ड्रिल-मास्टर की तरह 'हाफ-पैंट' और 'हाफ-शर्ट' पहनकर 'लघु सिद्धांत कौमुदी' पढ़ाने को जी नहीं कर रहा था। बातों ही बातों में किसी ने कहा— 'पोशाक योग्यता से प्रधान होती है।' वासः प्रधानम् खलु योग्यतायाः। यह न सोचना कि वस्त्रों से क्या होता है? किम् वाससैव न विचारणीयम्।' मेरे मन का बोझ हठात् उतर गया। केम्ब्रिक यानी सूती कपड़े का कुर्ता, फिन्ले की धोती और पंप जूता पहनकर ही पढ़ाने गया और जाता रहा। सन् 48 में सरकारी नौकरी में आया तब भी वेश परिवर्तन आवश्यक नहीं जान पड़ा मुझे।

नवंबर 1951 में मध्यप्रदेश के सूचना और प्रकाशन विभाग में मैं उप-निदेशक की तरह नियुक्त हो चुका था। 6 नवंबर को प्रधानमंत्री की हैसियत से पंडित जवाहरलाल नेहरू पहली बार मध्यप्रदेश के दौरे पर पधारे और नागपुर के कस्तूरचंद पार्क में एक जनसभा को संबोधित करने पहुंचे। सभा में प्रेस के

प्रतिनिधियों के बैठने की समुचित व्यवस्था करना और प्रधानमंत्री के भाषण की रिपोर्ट तैयार करके निदेशक को सौंपना— मेरे जिम्मे इतना ही काम था। यह सारा संयोजन समय पर संतोषप्रद ढंग से पूरा हो गया था। किंतु पंडितजी के दौरे के दरम्यान सरकारी विभागों और अखबार वालों के बीच वांछित तालमेल की कमी सरकार को अखर गई थी। इसलिए मुख्य-सचिव की प्रेरणा से विभिन्न विभागों के उच्चाधिकारियों और प्रेस के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया था।

प्रेस के महानुभावों की अगवानी के लिए सचिवालय के प्रवेश-द्वार पर हम दो अधिकारी उपस्थित थे। मुख्य सचिव के आते ही उनसे आंखें चार हुईं। उन्होंने कुछ अर्थपूर्ण दृष्टि से हम दोनों को सिर से पांव तक देखा। कहा कुछ नहीं। मौका पाकर चर्चा करने पर हम दोनों इस नतीजे पर पहुंचे कि हो-न-हो हम दोनों की पोशाक मुख्य-सचिव को कुछ खटक-सी गई है। वे हमारे विभागाध्यक्ष भी थे। मैं तो वही केम्ब्रिक का कुर्ता, फिन्ले की धोती और 'पंप' जूता तब भी पहना करता था और मेरे साथी उपनिदेशक, तिवारी हनुमान प्रसाद, खादी का कुर्ता-पाजामा और चप्पल इस्तेमाल करते थे। यानी हम दोनों की पोशाक जन-नेताओं के पहनावे से मेल खाती थी। जनता के सेवक, सरकारी अधिकारियों के पहनावे से नहीं। गनीमत यह थी कि उस अवसर पर किसी मंत्री को शामिल नहीं होना था। बात आई-गई हो गई।

लेकिन फिर भी उस घटना-क्रम पर आद्योपांत दृष्टि रखने वाले एक अनुभवी अधिकारी की कृपा से वह परिपत्र हमारे हाथ आ गया था, जिसमें सरकारी अधिकारियों और औपचारिक तथा अनौपचारिक पोशाक के संबंध में विस्तृत निर्देश जारी किए गए थे। इसमें लिखा था कि राजधानी नागपुर के मौसम के विचार से पूरी आस्तीन की कमीज और गहरे रंग की पतलून साल-भर काम दे सकती थी। औपचारिक वेश में गलाबंद कोट, सूट, नेकटाई अथवा सफारी-सूट का प्रावधान था। फूल-फुलाड़ी वाली, आवारा-छाप बुशशर्ट पर सख्त पावंदी थी। निहित होने पर भी यह मन्तव्य स्पष्ट था कि

हम दोनों की पोशाक मुख्य-सचिव को कुछ खटक-सी गई है। वे हमारे विभागाध्यक्ष भी थे। मैं तो वही केम्ब्रिक का कुर्ता, फिन्ले की धोती और 'पंप' जूता तब भी पहना करता था और मेरे सभी उपनिदेशक, तिवारी हनुमान प्रसाद, खादी का कुर्ता-पाजामा और चप्पल इस्तेमाल करते थे। यानी हम दोनों की पोशाक जन-नेताओं के पहनावे से मेल खाती थी। जनता के सेवक, सरकारी अधिकारियों के पहनावे से नहीं। गनीमत यह थी कि उस अवसर पर किसी मंत्री को शामिल नहीं होना था। बात आई-गई हो गई।

सरकारी सेवारत अमले को जन-नेताओं जैसी पोशाक भूलकर भी नहीं पहननी चाहिए! यानी धोती-कुर्ता बिलकुल नहीं चलेगा।

मैं इस परिपत्र के प्रकाश में यह बार-बार सोचता रहा था कि वेश-परिवर्तन की दिशा में समय रहते आवश्यक कदम न उठाए तो मुझे एक-न-एक दिन किसी विषम स्थिति से दो-चार होना पड़ सकता है। पर यह विचार हमेशा बाजी मार ले जाता था कि स्वाधीन-भारत में जनता की सरकार पोशाक जैसे प्रश्न को लेकर अपने ही सेवकों से टंटा क्यों करने लगी? कुर्ते के संग आंख-मिचौनी की जो घटनाएं अब तक मेरे साथ हो चुकी थीं, उनमें एक और उस दिन जुड़ गई, जिस दिन वित्त-मंत्री के साथ उनके जन-संपर्क दौरे पर सुदूर चंद्रपुर के एक गांव के लिए दल-बल सहित रवाना हुआ था।

**अपनी समझ से उन्होंने
उत्तम भोजन तैयार कराया था,
खिचड़ी! साथ घी, दही, पापड़,
अचार यानी उसके चारों यार
भी परोसे गए पर खिचड़ी
देखकर मेरा माथा ठनका! मैं
जानता था, मंत्रीजी सुस्वादु
षट्रस भोजन के प्रेमी हैं।
मिष्टभाषी मंत्रीजी ने बगल में
बैठे सरपंच से धीमे से कहा
'मेरा पाचन अभी खिचड़ी की
हद तक कमजोर नहीं हुआ है।
फिर भी जो आप खिलाएंगे,
प्रेम से ग्रहण करूंगा।**

यहां गांव वालों ने एक पुराने तालाब की खुदाई और सफाई श्रमदान से कर डाली थी। निस्तार के लिए पक्के घाट और मवेशियों के लिए हौज बनवाने का खर्च सरकार देने वाली थी। मंत्रीजी एक आमसभा में व्यय की राशि सरपंच को सौंपने वाले थे। गांव के नेताओं से उनकी बातचीत का सार उनके भाषण की रिपोर्ट और वहां लिए गए उनके चित्र मुझे जल्द-से-जल्द मुख्यालय भेजने थे ताकि अगले दिन वह सारा विवरण समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो सके।

गांव में हमें पंचायत-घर के पास ठहरना था। वहां अमराई के नीचे चार-छह चारपाइयां डाल दी गई थीं। उन पर गद्दे बिछे थे, जिनको धुली हुई चादरों से ढंक दिया गया था। मेजबान सबसे पहले हम अतिथियों को

भोजन कराना चाहते थे। अपनी समझ से उन्होंने उत्तम भोजन तैयार कराया था, खिचड़ी! साथ घी, दही, पापड़, अचार— यानी उसके चारों यार भी परोसे गए पर खिचड़ी देखकर मेरा माथा ठनका!

मैं जानता था, मंत्रीजी सुस्वादु षट्रस भोजन के प्रेमी हैं। मिष्टभाषी मंत्रीजी ने बगल में बैठे सरपंच से धीमे से कहा— 'मेरा पाचन अभी खिचड़ी की हद तक कमजोर नहीं हुआ है। फिर भी जो आप खिलाएंगे, प्रेम से ग्रहण करूंगा। दूसरी बाजू में मैं बैठा था। दोनों हाथ जोड़कर सरपंच ने जो कुछ उनसे कहा, उसे भी

मैंने सुना। उन्होंने बड़ी विनम्रता से कहा 'क्षमा कीजिए, महाराज। यह व्यवस्था आपके निजी-सचिव की सलाह पर ही की गई है। घर से आई भोजन-सामग्री को आपने रास्तेभर हाथ नहीं लगाया। सारे व्यंजन ज्यों के त्यों रखे रहे। इस कारण जान पड़ता है, उन्हें भ्रम हो गया। तभी न आपके स्वास्थ्य का विचार करके उन्होंने हमें यह परामर्श दिया। परिणाम सामने है। लेकिन, प्रभुजी, आपके इस सेवक ने कच्ची गोलियां नहीं खेली हैं। आप अतिथिदेव हैं। आपको संतुष्ट करना हमारा धर्म और कर्म दोनों है। पक्का भोजन भी तैयार है।'

सरपंच के इशारे पर, पलक झपकते थालियों की कतार लग गई। तरह-तरह के पकवान हमारे सामने आ गए। फूली-फूली पूरियां और भाप के साथ शुद्ध घी की खुशबू फैलाती सब्जियां भी पेश कर दी गईं। संतुष्ट होकर भोजन करने के बाद इधर मंत्रीजी विश्राम करने उठे, उधर दोनों पक्षों के छुटभैए आंखों-आंखों में बातें करने लगे। पंचायत-घर की दालान में आवश्यक व्यवस्था पहले ही कर दी गई थी और शोरगुल मेटने के लिए लोगों को तितर-बितर होने का इशारा भी कर दिया गया था।

लगभग घंटा भर बाद सभा का समय होने को आया तो पास ही दूसरी चारपाई पर मैं पालथी मारकर सतर्कता से बैठ गया। हमेशा की तरह मैं शुभ्र धोती-कुर्ता तो पहने ही था। आने वाले अपनी-अपनी सतरंगी दरी पर कतारों में बैठते गए। कुछ थे जो कदाचित मुझे मंत्री समझ बैठे। कागज की पुंगी बनाकर अपनी-अपनी याचिकाएं झुककर मेरे हाथों में देने लगे और बिना पीठ दिखाए, सम्मान-सूचक मुद्रा में, उल्टे पांव लौटते हुए पीछे की कतारों में बैठने लगे। मैं नहीं कह सकता कि यह सारा दृश्य मंत्रीजी ने कब देख लिया।

अब सरपंच-सहित कुछ वरिष्ठ लोग मंत्रीजी को सभा के लिए लिवा लाए। उनके आते ही सब उठ खड़े हुए। राष्ट्र-गान के बाद सभा की कार्यवाही प्रारंभ हुई। सरपंच के स्वागत-भाषण के बाद उन्हें धन-राशि सौंप दी गई। विभागीय फोटोग्राफर तथा हमारे अन्य कर्मचारी अपने-अपने काम में सावधानी से लगे रहे।

हमेशा की तरह मैं शुभ्र धोती-कुर्ता तो पहने ही था। आने वाले अपनी-अपनी सतरंगी पर कतारों में बैठते गए। कुछ थे जो कदाचित मुझे मंत्री समझ बैठे। कागज की पुंगी बनाकर अपनी-अपनी याचिकाएं झुक कर मेरे हाथों में देने लगे और बिना पीठ दिखाए, सम्मान-सूचक मुद्रा में, उल्टे पांव लौटते हुए पीछे की कतारों में बैठने लगे। मैं नहीं कह सकता कि यह सारा दृश्य मंत्रीजी ने कब देख लिया।

अपने भाषण में मंत्रीजी ने सबसे पहले ग्रामवासियों के श्रमदान की प्रशंसा की और कहा कि जो अपनी मदद स्वयं करते हैं, भगवान उनकी मदद अवश्य करते हैं, इसमें संदेह नहीं है।

फिर प्राप्त-याचिकाओं का हवाला देते हुए उन्होंने आश्वासन दिया कि जो मामले उनके विभाग से संबंधित नहीं हैं, उन पर वे अपनी सहयोगियों का ध्यान लिवाएंगे। जो उनके अधीन है, उन पर तुरंत ध्यान देंगे। गांव की खुशहाली की कामना करते हुए और सरपंच की कर्मठता की दाद देते हुए मंत्रीजी ने अपना भाषण समाप्त किया। तालियों की गड़गड़ाहट के साथ ज्यों ही सभा की कार्यवाही समाप्त हुई, हमारे विभाग की सिनेमा वैन से राष्ट्रीय धुन बज उठी और उसकी रोशनी में सारा प्रांगण जममगा उठा। उसी समय यह ऐलान किया कि संत तुकाराम फिल्म आधे घंटे में दिखाई जाएगी।

कार्यक्रम की रिपोर्ट का तार भेजने तथा चित्रादि सामग्री जल्दी पहुंचाने के लिए एक अग्रिम-दल नागपुर रवाना किया गया। दर्शकों की भीड़ को नियंत्रित करने, उनको प्रसाद बांटने, अतिथियों के जलपान की व्यवस्था करने और मंत्रीजी से साहित्य-चर्चा करने में बहुतेरे लोग जहां-तहां व्यस्त हो गए। साहित्य-रसिक और कवि-हृदय मंत्रीजी से अनुरोध करके नेताओं ने उन्हें काव्य पाठ तक के लिए राजी कर लिया था।

काव्य-पाठ के बाद और फिल्म शुरू होने के पहले, अपने स्टॉफ और सुरक्षा-दल के साथ मंत्रीजी नागपुर रवाना हो गए थे। फिल्म समाप्त होने पर सबसे विदा लेकर अपने सहकर्मियों के साथ मैं भी लौट पड़ा था।

दो दिन बाद विभागाध्यक्ष का संदेश आया। मैं उनसे मिलने गया था। चंद्रपुर के जन-संपर्क कार्यक्रम पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उन्होंने बताया था कि “प्रकाशित ब्यौरे के अलावा शेष विवरण मुख्यमंत्री महोदय को वित्त-मंत्री से मिल चुका है। उसके प्रकाश में आपको यह परिपत्र देता हूं और आशा करता हूं कि इसके रेखांकित अंश पर आप अविलंब ध्यान देंगे।”

परिपत्र का रेखांकित अंश इस प्रकार था: “सरकारी सेवारत अमले को पोशाक के मामले में जन-नेताओं से सदा तटस्थता बरतनी चाहिए।”

लेखक का बहुत-सा परिचय तो उनके कुर्ते-धोती से मिल ही जाता है। पहले मध्यप्रदेश और फिर केन्द्र सरकार में ऊंचे प्रशासनिक पदों पर सेवाएं देने के बाद वे म.प्र. के सागर शहर में आ गए थे। फिर यही से उन्होंने भवसागर पार किया।



पोथी पढ़ि पढ़ि

बिन पत्ती सब सून

किशोर पंवार

वर्षा की पहली फुहार के साथ धरती पर हरियाली छाने लगती है और सावन-भादों आते-आते कोई जगह ऐसी नहीं बचती जहां छोटे-बड़े पौधे न दिखाई दें। यह सारी हरियाली पत्तियों की बदौलत ही तो है। जरा सोचिए, पेड़ों पर पत्तियां न होतीं तो क्या वे हमेशा ठूठ ही न दिखाई देते, जैसे वे पतझड़ में दिखाई देते हैं? फूल आने से पहले पत्तियां ही पेड़-पौधों का श्रृंगार होती हैं। पौधों का तो ये अभिन्न अंग हैं ही, हमारे लिए भी इनका महत्व कम नहीं है।

प्राणिमात्र की भोजन संबंधी सारी जरूरतों की पूर्ति इन्हीं हरी पत्तियों से होती है। पत्तियों के बिना मनुष्य सहित किसी भी जीव-जंतु का जीवन संभव नहीं है। जो भोजन हम करते हैं, उसका निर्माण इन्हीं पत्तियों में होता है। इसे हम अनाज, दाल, सब्जी, फल, तेल, शक्कर तथा अन्य कई रूपों में जानते हैं।

शाकाहारी प्राणी अपना भोजन चारे के रूप में सीधे पत्तियों से प्राप्त करते हैं। हमारे खाने में सब्जियां न हों तो क्या मजा। पालक, सरसों का साग, चौलाई, मैथी, बथुआ और न जाने क्या-क्या, सब पत्तियां ही तो हैं। पत्तीदार सब्जियां विटामिनों तथा खनिज लवणों की प्रमुख स्रोत हैं। इनका सेवन अच्छे स्वास्थ्य के लिए जरूरी है। बरसते पानी में भजिए का आनंद लेना हो तो पोई, अरबी के पत्ते, गोफना और अजवाइन के पत्तों को भला कोई कैसे भूल सकता है!

खाने को स्वादिष्ट तथा पाचक बनाने में भी पत्तियों का योगदान कम नहीं। जैसे तेजपात, पुदीना, कढ़ी पत्ता या मीठी नीम। मीठी नीम नाम से ऐसा लगता है कि इसका हमारे परिचित पेड़ कड़वे नीम से कोई संबंध है। परंतु यह सही नहीं है। यह एक अलग ही जाति का पेड़ है जिसकी रिश्तेदारी सुगंधित झाड़ी मधुकामिनी से है। हां, इसकी पत्तियां जरूर नीम जैसी दिखती हैं। हरे धनिये की पत्तियों की तो शान ही निराली है। तैयार सब्जियों और पुलाव पर जब तक हरा धनिया न बिखेरा जाए, मजा ही नहीं आता।

तैयार खाना परोसने के लिए भी तो ये ही पत्तियां काम आती हैं। भले ही “ढाक के तीन पात” से बने पत्तल-दोने हों या केले के पत्ते। दक्षिण के घरों में ही नहीं, बाजार होटलों में भी केले के पत्तों पर भोजन करना-कराना आज भी प्रचलित है। पत्तल-दोने के अलावा पत्तों का उपयोग चटाई व झाड़ू बनाने में भी किया जाता है। खजूर और ताड़ की पत्तियां इसी काम में आती हैं। ताड़ के पत्तों से बनी चटाई को नीले थोथे के घोल में डुबोकर कच्चे घरों की टिकाऊ छतें बनाई जाती हैं।

घर आए मेहमान का स्वागत बिना चाय-पान के अधूरा ही होता है। ताजगी तथा चुस्ती से भरपूर असम व दार्जीलिंग के बागानों से देश-विदेश में पहुंचने वाली चाय, थिया साइनेसिस पौधे के शीर्ष की तीन कोमल पत्तियां हैं। चाय के बाद पान का जिक्र न हो तो मेजबानी का रंग अधूरा ही होता है। हजारों लोगों को शहर व गांव में रोजगार उपलब्ध कराने वाला पान भी एक बेल का पत्ता ही है। मुगल काल से ही पान शान और शौक का प्रतीक रहा है। खाने-पीने के अलावा पत्तियां तीज-त्यौहार के अवसरों पर घरों को सजाने-संवारने में भी काम आती हैं। आम, अशोक तथा मौलश्री के पत्तों से बने बंदनवार का उपयोग आज भी हमारे घरों में होता है। इन पेड़ों की पत्तियों से बंदनवार बनाने के पीछे बहुत समय तक हरा और कई दिनों तक ताजा बने रहना जैसे गुण हैं। औषधीय महत्व के तुलसी के पत्ते से भला कौन अनभिज्ञ हो सकता है?

पत्तियों का उपयोग फूलों के हार को सजाने तथा गुलदस्ता बनाने में भी होता है। रंग-बिरंगे फूलों से बनी मालाओं के बीच-बीच में करंज व बेशर्म तक के पत्तों का उपयोग सुंदरता को बढ़ा देता है। घरों की भीतरी सज्जा में मनी-प्लांट की सुंदर, चिकनी व गहरी हरी और चितकबरी पत्तियों का अपना ही महत्व है। घर-आंगन को सजाने के साथ-साथ स्वयं का श्रृंगार भी कम महत्व का नहीं है। जीवन के विभिन्न रंगों में मेहंदी के रंग का अपना विशिष्ट स्थान है। इसके बिना सोलह श्रृंगार अधूरे हैं। शादी-ब्याह, तीज-त्यौहार या खुशी के अन्य अवसरों पर हाथों में मेहंदी रचाना एक परंपरा है। इसका प्रयोग बिना किसी जाति व धर्म के भेदभाव के खुलकर किया जाता है। आजकल मेहंदी के पत्तों का प्रयोग बालों को रंगने आदि के लिए भी किया जाता है। मेहंदी की पत्तियों का यह गुण उसमें उपस्थित पदार्थ लासोन के कारण होता है। यह प्रोटीन-युक्त पदार्थ त्वचा, बाल व रेशम से क्रिया कर उन्हें गहरा लाल-कथई रंग देता है।

जब कागज की खोज नहीं हुई थी, तब ताड़ व भोज पेड़ के पत्ते ही कागज का काम करते थे। अनेक प्राचीन ग्रंथ इन्हीं पत्तों पर लिखे गए हैं। बीड़ी शुष्क, पतझड़ी जंगलों के महत्वपूर्ण वृक्ष तेंदू के पत्ते से बनाई जाती है। तेंदू के वृक्ष मध्य

प्रदेश के अलावा बिहार, महाराष्ट्र तथा समस्त प्रायद्वीपों में मिलते हैं। इस पत्ते के महत्वपूर्ण होने का कारण है इसकी विशिष्ट गंध, लचक तथा लंबे समय तक खराब न होने का गुण। इन्हीं विशेषताओं के कारण इसे बीड़ी बनाने के काम में लिया जाता है। और इस बीड़ी में भरी तम्बाकू भी तो एक पत्ती ही है, जिसे पीकर और खाकर लोग अपनी सेहत के साथ खिलवाड़ करते हैं।

लेकिन पेड़-पौधों पर पत्तियां केवल इसलिए नहीं लगतीं कि हम उनसे बंदनवार सजा लें या हरी पत्तेदार सब्जियां प्राप्त करें। पत्तियां इस पूरी सृष्टि का एक महत्वपूर्ण अंग हैं। वे पौधों के कुल संसार को टिकाने, बढ़ाने में नाना प्रकार की भूमिकाएं निभाती हैं। सबसे प्रमुख भूमिका तो भोजन निर्माण की है, जो न सिर्फ इन पत्तियों के मालिक पेड़-पौधों के लिए बल्कि लगभग समस्त जीवधारियों के जीवन का आधार है। भोजन निर्माण के साथ-साथ कुछ पौधों की पत्तियां रूप बदलकर शिकारी भी बन जाती हैं और जीव-जंतुओं का शिकार करके भोजन जुटाने का काम भी करती हैं। इसके अलावा पत्तियां वाष्पोत्सर्जन और गैसों के आदान-प्रदान जैसे जरूरी काम करती हैं। पौधों पर फूल खिलने में भी पत्तियां एक अहम भूमिका अदा करती हैं। गाहे-बगाहे पत्तियां पौधों की रक्षा करने, उनके लिए सहारा खोजने वगैरह जैसे विविध काम भी करती हैं।

जब तक हरी हैं, जिंदा हैं, तब तक तो इनका उपयोग है ही पर ये तो सूखकर, मर कर, गिर कर भी अपना काम करती हैं।

जाड़े के बाद अचानक पतझड़ी जंगलों के सारे पेड़ों के पत्ते पीले पड़कर झड़ जाते हैं। ये पत्ते भला क्यों झड़ जाते हैं? प्रति वर्ष पतझड़ में लाखों टन क्लोरोफिल कुछ ही सप्ताह में नष्ट हो जाता है। ऐसा क्यों होता है? पत्तियों का ये हरा पदार्थ कहां गायब हो जाता है? इन सवालों के जवाब जानने का प्रयास वैज्ञानिक लंबे समय से कर रहे हैं। पतझड़ की प्रक्रिया कई कारणों से महत्वपूर्ण है। इसके कारण ऊष्ण-कटिबंधीय देशों का सारा नजारा ही बदल जाता है। उपग्रह इस मौसम में जो चित्र भेजते हैं उनमें पृथ्वी कुछ ज्यादा ही रंगीन नजर आती है। इन चित्रों में गहरे हरे, पीले, लाल व भूरे रंग के बदलाव की स्पष्ट तरंगें देखने को मिलती हैं।

तैयार खाना परोसने के लिए भी तो ये ही पत्तियां काम आती हैं। भले ही “ढाक के तीन पात” से बने पत्तल-दोने हों या केले के पत्ते। दक्षिण के घरों में ही नहीं, बाजार होटलों में भी केले के पत्तों पर भोजन करना-कराना आज भी प्रचलित है। पत्तल-दोने के अलावा पत्तों का उपयोग चट्टाई व झाड़ू बनाने में भी किया जाता है।

यूरोपीय देशों में पतझड़ में प्रकृति के इस बदले हुए रूप को देखने के लिए भारी भीड़ उमड़ती है। वहां पर्यटन स्थलों के होटल बहुत पहले ही आरक्षित हो जाते हैं। पूर्वी-उत्तरी अमेरिका में तो पतझड़ आने पर पर्यटन से करोड़ों डॉलर की कमाई हो जाती है।

पत्तियों में क्लोरोफिल का विघटन स्थानीय मौसम व पेड़-पौधों की प्रजातियों पर निर्भर करता है। इन सबका मिला-जुला नजारा बहुत लुभावना होता

**जब तक हरी हैं,
जिंदा हैं, तब तक
तो इनका उपयोग है
ही, पर ये तो सूखकर,
मर कर, गिर कर भी
अपना काम करती हैं।**

है। रंग परिवर्तन की यह लहर ध्रुवों से ऊष्ण-कटिबंधों की ओर दक्षिणी यूरोप में 60 से 70 किलोमीटर प्रतिदिन की रफ्तार से चलती है, और सारा क्लोरोफिल 2-3 सप्ताह में नष्ट हो जाता है। कटिबंधों से दूर ध्रुवीय प्रदेशों में और पहाड़ों पर चीड़ के सदाबहार वनों में पतझड़ नहीं आता। इनकी पत्तियां पूरे साल धीरे-धीरे झड़ती रहती हैं। पृथ्वी पर ऊष्ण-कटिबंधीय जमीनी पौधों में प्रति वर्ष लगभग 30 करोड़ टन

क्लोरोफिल नष्ट हो जाता है। पूरी पृथ्वी पर लगभग 12 खरब टन क्लोरोफिल टूटकर रंगहीन पदार्थ में बदल जाता है। इसी तरह दो करोड़ टन पीला केरोटिन भी विघटित होकर अन्य पदार्थों में बदल जाता है।

क्लोरोफिल का टूटना व अन्य पदार्थों में बदलना पत्तियों के पक जाने की जटिल क्रियाओं के कारण होता है। इस दौरान पत्ती के उपयोगी पदार्थ (जैसे शर्करा, प्रोटीन या डी.एन.ए.) पत्तियों से निकलकर पेड़ के अन्य भागों, जैसे कंदों या जड़ों में चले जाते हैं। इस तरह पत्ती जब झड़ती है तो वह मात्र एक कंकाल होती है। पत्तियों के पकने की शुरुआत उनके पीले पड़ने से होती है। इस समय उनके भोजन निर्माण कारखानों (क्लोरोप्लास्ट) के अवयव बिखरने लगते हैं और कुछ सरल पदार्थों में टूट-बिखर जाते हैं। ऐसी पत्ती अब भोजन नहीं बना सकती और अंत में पीली-भूरी होकर झड़ जाती है।

सन् 1890 में विएना में वनस्पति शास्त्र के वैज्ञानिक एंटोन जोसेफ केरनर ने देखा कि पतझड़ से पहले क्लोरोफिल के कण सिकुड़कर चमकीले कणों में बदल जाते हैं। इनको उन्होंने 'अंतिम 'व्यर्थ' पदार्थ' कहा जसूर पर प्रकृति में कोई भी चीज व्यर्थ नहीं होती।

कुछ समय बाद वैज्ञानिकों ने यह देखा कि क्लोरोफिल को अल्कोहल, एसीटोन व ईथर जैसे कार्बनिक पदार्थों में घोला जा सकता है। इस घुली अवस्था में भी क्लोरोफिल से निकला इलेक्ट्रॉन ऑक्सीजन से क्रिया करके उसे सक्रिय

मूलक में बदल देता है। सक्रिय ऑक्सीजन क्लोरोफिल के कणों पर आक्रमण कर उसे एक निष्क्रिय, रंगहीन पदार्थ में बदल देती है। क्लोरोफिल के रंगहीन हो जाने की समस्या से डिब्बाबंद पदार्थों के उत्पादक भी परेशान थे। ताजा बताए गए डिब्बाबंद हरे मटर धीरे-धीरे भूरे रंग में बदल जाते हैं। उत्पादकों ने देखा कि यदि डिब्बों में ताजा, हरे मटर तांबे की सूक्ष्म मात्रा के साथ रखे जाएं तो वे लंबे समय तक हरे बने रहते हैं तथा उनकी चमक और भी बढ़ जाती है। वैज्ञानिकों ने इसे आगे बढ़ाते हुए देखा कि क्लोरोफिल अणु के बीच में जो मैग्नीशियम का परमाणु होता है, यदि उसकी जगह तांबे या जस्ते का परमाणु हो तो ऐसा क्लोरोफिल ज्यादा टिकाऊ होता है।

इस क्लोरोफिल को टिकाऊ बनाकर उसकी खूब कीमत वसूली जाती है। डिब्बाबंद खाद्य पदार्थों के उत्पादक इस तकनीक का लाभ उठाते हैं। विदेशी बाजार क्लोरोफिल-युक्त खाद्य पदार्थों से भरे पड़े हैं। अब हमारे बड़े शहरों के बड़े बाजारों, मॉलों में भी यह सब बिकने लगा है। खाने के तेलों, दही, फलों के रस व सब्जियों में तांबा-युक्त क्लोरोफिल मिलाया जा रहा है। इसका उपयोग महंगे सौंदर्य पदार्थों में भी होने लगा है। हर्बल शैंपू, झाग-युक्त नहाने की क्रीम, टूथपेस्ट और दुर्गंधनाशक पदार्थों में भी नकली क्लोरोफिल मिलाया जाता है। तांबा युक्त क्लोरोफिल प्रकृति में नहीं पाया जाता है। इस तरह का क्लोरोफिल प्रकाश संश्लेषण भी नहीं कर सकता है। क्लोरोफिल को रासायनिक परिवर्तन द्वारा टिकाऊ बनाकर खाद्य व सौंदर्य उद्योग का व्यापार विदेशों में खूब फल-फूल रहा है।

क्लोरोफिल अणु बहुत ही अस्थिर होते हैं। प्रकृति ने उनका यह स्वभाव कुछ सोचकर ही बनाया है। इसमें हम विज्ञान और तकनीक का सहारा लेकर कितनी भी छेड़छाड़ करें, इससे हरी पत्ती का मूल स्वभाव बदलने वाला नहीं। सोलह आने सच है: बिन पत्ती सब सून। पतझड़ में पत्तियों का पीला पड़ना और झड़ना एक अनिवार्यता है। इसी में तो इस धरती पर जीवन व्यवस्थित और निर्बाध रूप से चलता रहेगा। पतझड़ आने वाली बहार का संदेशवाहक है। एक का अंत और दूसरे की शुरुआत— प्रकृति का यही अटल नियम है।

श्री किशोर पंवार इंदौर के होलकर विज्ञान महाविद्यालय में वनस्पति विभाग में प्राध्यापक और वहां के पर्यावरण विभाग के प्रमुख हैं। विज्ञान की जटिल मानी गई अवधारणाओं पर सरल ढंग से लिखते हैं। ये अंश एकलव्य, भोपाल से प्रकाशित पुस्तक 'बिन पानी सब सून' से लिए गए हैं।



टिप्पणियाँ

ताम्रपत्र पर नोट वाले गांधी

किस्सा यों इतना पुराना नहीं है। पर थोड़ी बास तो इससे आ ही सकती है।

कोई चार बरस पहले की बात है। केंद्र में यही सरकार थी पर तब किसी राजा, किसी रानी या किसी लोकपाल के संग्राम नहीं चल रहे थे। राम लीला ग्राउंड में बस राम की ही लीला होती थी। ऐसे शांत वातावरण में सरकार को अचानक स्वतंत्रता संग्राम सेनानी की याद आ बैठी। सरकार भावुक हो गई। उसे कर्तव्य ने पुकारा। लगा कि बिना वक्त गवाए स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों का सम्मान कर डालना चाहिए।

सरकार ने इतना शानदार सपना देखा। बिना किसी रुकावट के उसे पूरा होना ही था। पर सरकार के सपने इतनी आसानी से पूरे नहीं हो पाते हैं। उन्हें पूरा करने के लिए समिति बनानी पड़ती है। लोकतंत्र का तकाजा है— सबसे पूछकर, राय लेकर काम करो।

स्वतंत्रता संग्राम सेनानी भी शायद नहीं जानते हों कि उन्होंने इस देश को आजाद करने के लिए जब अपनी जवानी, अपनी जान झोंकी थी तो आजादी के बाद उनकी ये सारी सेवाएं कहां दर्ज होंगी? पुलिस के पास। आजादी के दीवानों की सारी जानकारी आज पुलिस के दीवान के पास ही दर्ज है। तब फाइल में उनका नाम एक अपराधी की तरह, कैदी नंबर की तरह दर्ज था। आजादी के बाद उसी नंबर पर स्वतंत्रता संग्राम सेनानी की पर्ची चिपका दी गई थी।

सब कुछ बहुत जल्दी ही कर देना था। 60-62 बरस पहले जो संग्राम लड़ा गया था, उसमें कोई क्रांतिकारी यदि दस बरस की उम्र

में शामिल हुआ होगा तो आज उसकी उम्र 80 के पार होनी चाहिए। ऐसे सेनानियों के सामने सिर झुका कर अपना आभार प्रकट करने के लिए उत्सुक खड़ी सरकार को इसीलिए यह भी पता था कि एक-एक दिन कितना कीमती है। देश के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर करने वालों को भगवान लंबी उम्र दे। पर सरकार को यह आशंका थी कि उस संग्राम को जीतने वाले ये सेनानी अब किसी भी दिन जीवन संग्राम हार सकते हैं। इसलिए सारे फैसले आनन-फानन में लिए गए। इस समिति में कौन-कौन, किस-किस कारण से सदस्य होगा— इसका बड़ी बारीकी से ध्यान रखा गया। गठजोड़ सरकार की मजबूरी आड़े नहीं आने दी और न भाड़े के लोग, बड़े भत्तों पर आने वाले विशेषज्ञ रखे गए। फोन पर ही सदस्यों को इस पुनीत काम की जानकारी दी गई। उसमें उनके योगदानों की चर्चा और सदस्य बनने की हामी ले ली गई। सरकारी मुहर वाले पत्र बहुत बाद में भेजे गए।

इन सदस्यों के नाम? ये ज्यादा नामी लोग नहीं थे। एक-आध ऐसे नाम थे भी तो वे शुरू की तैयारी में अपनी व्यस्तता के कारण आ ही नहीं पाए। समिति के अध्यक्ष स्वयं गृहमंत्री और सदस्य सचिव थे गृहमंत्रालय के सचिव। समिति में शेष लोग ऐसे ही रखे गए थे जो बिना वक्त गंवाए सरकार को बता देंगे कि स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के सम्मान का यह सपना कैसे पूरा होगा।

एक बार फिर दोहरा लें कि समय बहुत कम था। गृहमंत्री बहुत ज्यादा व्यस्त थे। इसलिए

उत्साही गैर-सरकारी सदस्यों ने गृह-सचिव को सुझाव दिया कि प्रारंभिक बैठक बिना अध्यक्ष के हो जाए तो कोई हर्ज नहीं। एक साफ-सुथरी रूपरेखा, ढांचा बन जाए तो फिर उस पर गृहमंत्री की मुहर लगती रहेगी।

शुरू की दो बैठक गृहमंत्रालय के बदले गैर-सरकारी सदस्यों के छोटे-मोटे दफ्तरों में, दो-चार कुर्सियां यहां-वहां से खींचकर संपन्न की गई थीं। इन बैठकों में सबसे जरूरी निर्णय लिए गए थे। तय हुआ कि सम्मान में स्वतंत्रता सेनानी को एक सुंदर ताम्रपत्र देना चाहिए। उसका नापतौल, वजन, लंबाई-चौड़ाई सबकी सहमति से सब दर्ज हो गया। पांच पंक्तियों के पचास सुंदर शब्दों में इबारत लिख ली गई। एक तरफ शासन का प्रतीक तीन शेर थे तो दूसरी तरफ गांधीजी का एकला चलो वाला श्री नंदलाल बसु का गरिमा भरा रेखाचित्र। सारे निर्णय फटाफट होते जा रहे थे। अचानक तीन बातों पर जाकर सारी बातचीत अटक गई। ताम्रपत्र पर दस्तखत किसके होंगे। कुल कितने ताम्रपत्र छपेंगे और शासन की तरफ से किस जगह पर सेनानियों का सम्मान किया जाएगा?

मिली-जुली सरकार पर संकट के कई मिले-जुले बादल आ गए थे। दस्तखत प्रधानमंत्री के होंगे या गृहमंत्री के? ताम्रपत्र पर एक बार दस्तखत हो गए तो वे फिर न तो मिटाए जा सकते और न बदले ही जा सकते हैं। यह तो तय हो गया था कि तीन शेर राज्य का प्रतिनिधित्व करेंगे और दांडी वाले गांधीजी समाज का। इसलिए समिति की राय थी कि शासन की तरफ से किसी का दस्तखत न भी हो तो काम चलना चाहिए।

इतनी सारी चीजें तैयार करने के बाद तीसरी बैठक में पहली बार गृहमंत्री आए। उनके समाने फाइल रखी गई। खोली सचिव महोदय ने। मंत्रीजी ने इबारत पढ़ी। शेर और

गांधी के चित्र देखे। मुंह बिचकाया। कहा कि ये तो गांधीजी जैसे नहीं लगते। बैठक में सन्नाटा छाया रहा थोड़ी देर। एक गैर सरकारी सदस्य ने समझाने की कोशिश की कि शांति निकेतन से निकले महान कलाकार नंदलाल बसु ने यह चित्र बनाया है। दुनिया भर में यह प्रसिद्ध है। बेदाग, कड़क सफारी पहने मंत्रीजी पर इस कलाकार के नामी ब्रश का कोई धब्बा भी नहीं पड़ सका। बिना प्रभावित हुए उन्होंने कहा: “नोटों पर गांधीजी जैसे साफ-साफ दिखते हैं, वैसा बनाइए। इबारत, दस्तखत आदि की बारीकियों में गए बिना बैठक खत्म हो गई। चार मिनट चली यह बैठक।

अगली बैठक में मंत्रालय के सचिव बदल गए। नए जो आए उन्हें सदस्यों ने फिर पूरी कहानी नए सिरे से बताई। यह भी कि नोट वाले गांधी कागज पर छपते हैं। ताम्रपत्र पर जैसे बारीक गांधी छप नहीं सकते। नंदलालजी वाले गांधी सबसे सुंदर और व्यावहारिक दिखेंगे। सचिव को बात नहीं जमी। मंत्रीजी की राय से उनकी राय भला कैसे अलग होती?

इसी बीच मुंबई में आतंकवादियों ने जगह-जगह हमले किए। गृहमंत्री भी वहां गए और कीचड़ में उतरें या नहीं इसे लेकर बड़ा विवाद उठा। गृहमंत्रीजी भी बदल दिए गए। नए जो आए उन पर और भी कई जिम्मेदारियां थीं। इस पुरानी समिति की फाइल नए गृहमंत्री की टेबुल पर कभी दोबारा नहीं रखी गई।

ताम्रपत्र, राष्ट्र की तरफ से कृतज्ञता भरी छोटी-सी प्यार भरी इबारत और नंदलाल बसु के गांधीजी अकेले ही चलते रहे। और नोट पर छपे गांधीजी! इस बीच कुछ लाखों-करोड़ों के हुए घोटाले की बास इतनी तेजी से उठी है कि इस छोटे से किस्से की बास भला किसे आने वाली!

अनुपम मिश्र



पत्र

दिल्ली में रहते हुए 18 वर्ष तक गांधी स्मारक निधि के जगत के साथ मेरा सक्रिय संपर्क था। कोलकाता आकर एक प्रकार से 'क्षेत्र संन्यास' लेने के पश्चात् 'गांधी-मार्ग' के माध्यम से उस जगत की प्रेरणादायी जानकारियां नियमित रूप से प्राप्त होती हैं। सभी अंकों का नियमित अध्ययन कर मैं लाभान्वित होता हूँ। पर आज तक 'गांधी-मार्ग' के बारे में कुछ नहीं लिखा। शायद 'क्षेत्र संन्यास' का धर्म निभाने की मानसिकता के कारण!

पर मई-जून का अंक पढ़ने के पश्चात् लिखने की प्रेरणा मिली। मुख्य रूप से 'मन्ना' एवं गांधी कार्य के अनन्य कार्यकर्ता, गांधी विचार के कवि, गीतकार भवानी प्रसाद मिश्रजी के बारे में अत्यन्त उच्चकोटी का संस्मरण पाठ करने पर लिखने की यह प्रेरणा मिली।

जो लिखा गया है, उसमें कुछ जोड़ने की शक्ति मैं नहीं रखता हूँ। केवल दो प्रसंगों का उल्लेख करने के लिए मन उत्सुक है। एक तो मेरी आदरणीय बड़ी बहन बासन्ती दीदी एवं उनके पति सुबोध दा राय के इस निमित्त कुछ सश्रद्धा संस्मरण। वे दोनों वर्धा के महिलाश्रम में भवानीबाबू के पड़ौसी थे। अक्सर वे दोनों अत्यन्त श्रद्धा के साथ उनका उल्लेख किया करते थे। मेरे गांधी निधि परिसर में आने के पश्चात् जब कभी बासन्ती दीदी वहां आतीं तो अवश्य ही भवानीबाबू के घर में जाकर सबसे मिलतीं और हम लोगों के पास वापस लौट उनके गुणगान करतीं।

भले ही थोड़े समय के लिए ही क्यों न हो, गांधी स्मारक निधि में आने के पश्चात् भवानीबाबू का सान्निध्य मुझे भी मिला था। निधि द्वारा संचालित गांधी विचार परीक्षा कार्यक्रम से वे जुड़े थे। कभी-कभी उसकी सभाओं में उनके दर्शनों के साथ-साथ उनके विचार भी सुनने का अवसर मिलता था। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था। लगता

था कि समूह में रहकर भी वे आत्मलीन थे।

पर एक कारण से हर दूसरे-तीसरे दिन आज भी उनकी याद आती है, वह है उनके निधन के पश्चात् प्रेमपूर्वक उनका रवीन्द्र रचनावली का पूरा सेट मुझे प्रसाद स्वरूप भेंट किया गया था। कुछ लिखने-पढ़ने का अभ्यास होने के कारण हर समय उन ग्रंथों को देखने का अवसर आता ही है। उस समय महज भाग्यवश देश के एक प्रमुख गांधीजन एवं साहित्यकार का मूल्यवान संग्रह किस प्रकार से मुझे प्राप्त हुआ एवं पग-पग पर उसका कितना लाभ मैं उठा रहा हूँ यह सोचकर सहज उनको नमन करते रहता हूँ।

शैलेन चटर्जी से मेरा परिचय भी था। चटर्जी का संस्मरण तथा स्वर्गीय वालुंजकरजी के बारे में लेख का विशेष उल्लेख कर रहा हूँ। पर इस अंक के सभी लेख मेरी दृष्टि से उच्चकोटी के हैं।

गांधी-मार्ग के हर अंक को पढ़कर कुछ नया जानने, सीखने मिलता है। मन में आशा तथा आनंद भाव उठता है। कृपया इस साधना को जारी रखें।

गांधी प्रतिष्ठान परिवार कुशल मंगल होगा। ईश्वर से सभी के लिए आशीर्वाद, प्रार्थना करता हूँ।

शैलेशकुमार बंधोपाध्याय,
बी-20, विवेकानन्द सरणी, 'चारू-नीड़',
कामधारी गरिया, कोलकाता-700084



हर बार गांधी-मार्ग को पूरा पढ़ती हूँ। कितनी ही व्यस्तताओं के बीच किसी न किसी समय के किसी छोटे टुकड़े का उपयोग गांधी मार्ग को पूरा पढ़ जाने के लिए करती हूँ। मई-जून अंक ट्रेन में यात्रा करते हुए पढ़ा। मंशा याद के मार्मिक लेख को पढ़ते

हुए गला भर आया था। पढ़ते-पढ़ते समय का भान भी नहीं रहा था।

मैं वर्षों तक स्व. भवानी प्रसाद मिश्र को 'मन्ना' नाम से जानती और पुकारती भी रही थी। पर आज 'स्नेह की उंगली' पढ़कर पता लगा कि 'मन्ना' का क्या अर्थ था।

मैं मानती हूँ कि मां-पिता मना करें तो भी मां-पिता के लिए वे भाव प्रकट करने ही चाहिए जो हमारे जीवन को गहराई से छू गए हों। ऐसे गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में अपनी मां व पिताजी के लिए अपने भाव व्यक्त किए हैं और विनोबा ने तो बड़ी-बड़ी सार्वजनिक सभाओं में गीली आंखें लेकर अपनी मां के बारे में रुंधे गले से बोला है। मैंने 'जाको राखे गो मइया' पढ़ने के बाद नन्दिनी मेहता को एक बधाई पत्र भेजा था। यह पुस्तक उन्होंने अपने पिताश्री के बारे में लिखी थी। उन्होंने पुत्री होने का एक अत्यन्त उत्तम भाव पूरा किया। ठीक उसी प्रकार मैं कहूंगी कि अनुपम भाई ने पुत्रभाव का सहज सुंदर प्रकटन किया है। वे आगे भी कुछ लिखें 'मन्ना' के बारे में, यह अनुरोध है।

मुहम्मद मंशा याद की कहानी डंगर बोली वास्तव में आज के 'समाज' शब्द व उसके वर्तमान संकीर्ण अर्थ की पूरी अवधारणा को बदल देने वाले हैं। समाज केवल मानव-समाज ही नहीं है। वरन् मानव से जुड़े पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, वृक्ष-पौधे, जंगल-नदियाँ, पर्वत सब मिलकर एक समाज बनता है और बोली या भाषा केवल मनुष्यों की ही बोली नहीं है। पशु की भाषा व बोली के साथ-साथ पेड़-पौधों, नदियों व पर्वतों की भी एक भाषा है। आप-हम उन्हें तोड़ते, सुखाते व काटते हैं तो वे कराहते हैं। वे बोल रहे हैं। मानव अपने स्वार्थ व लोभ में अंधा-बहरा बना रहता है। अतः उस बोली को सुन नहीं पाता।

मंशा याद के पात्र न बकरे की भाषा समझी तो भी समाज के दबाव में उसके गले पर हलाल की छुरी चलाई, यह बहुत दुखद व चिन्तनीय है। कैसी बेबसी थी सामने? कैसे वह उस जीव के प्रति निर्दय हो सका जिनके प्यार में वह व उसके प्यार में वह बकरा बेहद

सुखी था। जिसके प्रति एक आत्मीय भाव गहराई से जुड़ गया था, उसके गले पर छुरी कैसे रखी गई होगी? यह हमारा प्यारा परिवार भी कितना निर्मम होता है।

हम सबको यह लेख बड़ी बारीकी से सोचने को प्रेरित कर रहा है कि किस प्यार को सच्चा प्यार कहें? बकरे का उसके लिए या उसका बकरे के लिए? अथवा पिता का अपने बेटे के लिए?

राधा भट्ट, अध्यक्ष,
गांधी शांति प्रतिष्ठान,
नई दिल्ली-2



गांधी-मार्ग का मई-जून अंक। बहुत ही विचारपूर्ण लेखों के इस संग्रह के लिए धन्यवाद।

विनोबा का 'अज्ञान भी ज्ञान है' बहुत ही सामयिक और विचार भरा लेख है। इसका पूरा संदर्भ भी दे देते कि इसे विनोबा ने कब और कहा कहा है या लिखा तो आगे इसके और उपयोग में भी सुविधा रहती।

महादेव भाई का लेख 'ऐसा भगवान चांदी का सिक्का है' के अंत में संपूर्ण गांधी वांगमय के खंडों का उल्लेख तो है पर सब लोगों के पास ये सारे खंड तो होते नहीं हैं, इसलिए अच्छा होता कि इसमें वर्ष और तारीख का भी उल्लेख कर दिया जाता।

'स्नेहभरी उंगली' बहुत ही उपयोगी, मोहक और सामयिक सामग्री लगी।

मोहम्मद मंशा याद की 'डंगर बोली' और वालुंजकरजी का 'सुगंध का चर्म लेख' भी बहुत ही प्रासंगिक और सुंदर लेख हैं।

मुझे लगता है कि 'जोड़ने में न टूटे लक्ष्मण रेखा' टिप्पणी बहुत ही महत्वपूर्ण जानकारी देती है। हमारे देश के पढ़े लिखे बुद्धिमान और ऊंचे पदों पर बैठे लोग तो अब तक यही मानते आ रहे हैं कि नदियों को जोड़ देने से पानी का यह संकट एकदम हल हो जाएगा। इतने संक्षेप में यह टिप्पणी इस भ्रम को दूर कर देती है। मेरे एक मित्र इस विचार के समर्थक रहे हैं। उन्हें मैं यह

टिप्पणी भेज रहा हूँ। आशा करता हूँ कि इसे पढ़ कर शायद उनका मन थोड़ा बदल जाए।

आत्माराम सरावगी,
70-सी, हिन्दुस्तान पार्क,
कोलकाता-700029



मैं गांधी-मार्ग का नियमित पाठक तो नहीं हूँ, लेकिन जब कभी भी मुझे अपने काम से कुछ समय मिलता है तो मैं इसे जरूर पढ़ता हूँ। उसमें मुझे जो पाठ या कहानी अच्छी लगती है, मैं उसे पूरा पढ़ता हूँ।

अभी मई-जून के अंक में 'डंगर बोली' कहानी पढ़कर एक बार मेरा दिल दुखी हो गया। जब मरने का समय आता है तो सभी को रोना आता है। चाहे वह डंगर हो या आदमी। मरने से तो सभी डरते हैं ना। यदि हमारे देश की आधी आबादी मुहम्मद मंशाजी की इस पाकिस्तानी कहानी के पात्र की तरह हो जाए तो जानवरों का कटना बंद न सही, कम तो हो ही सकता है।

सोबनसिंह रावत,
बिजली विभाग, गांधी शांति प्रतिष्ठान,
नई दिल्ली-110002



मई-जून अंक सदैव की भांति हृदयग्राही। गांधी-मार्ग पत्रिका के साथ, ऐसा मेरा मानना है कि मेरे जीवन में सात्विकता का बोध घनीभूत होने लगता है। यह पत्रिका में सन्निहित गांधीजी तथा विनोबाजी जैसी महान तापस विभूतियों के सद्विचारों और नैतिक मूल्यों का ही प्रभाव है। पत्रिका का अध्ययन मनन हमें आत्मज्ञान की ओर ले जाता है। यह अंक भी अपनी उदात्त परंपरा के अनुरूप ही बेजोड़ निकला।

विनोबाजी का 'अज्ञान भी ज्ञान है' लेख सूचना संक्रांति के वर्तमान परिदृश्य में आंख खोलने वाला है। आजकल हर ओर तरह-तरह की बेमतलब जानकारियों, सूचनाओं के अनावश्यक अर्जन को ही ज्ञानार्जन के रूप में देखा जा रहा है। विनोबाजी ने क्या

खूब कहा है कि "अनेक बातें सुन-सुनकर तेरी मति विप्रतिपन्न हुई है। अनेक विद्याएं प्राप्त कर तू विद्वान बना है, लेकिन उसका परिणाम यह हुआ है कि चित्त अनिर्णय की अवस्था में रहता है।" "मनुष्य के लिए विद्या और अविद्या दोनों आवश्यक हैं। ...संसार में इतना ज्ञान भरा पड़ा है कि उन सबको अपने मस्तिष्क में ठूसने का यत्न करने से मानव पागल हो जाएगा।"— यह पढ़कर ज्ञानार्जन की अंधी दौड़-दौड़ रहे मेरे मन के घोड़े को बरबस ही ठिठकना पड़ा। "जिस ज्ञान की स्वधर्माचरण में कोई आवश्यकता नहीं, जिससे बुद्धि भेद होता है, उस ज्ञान का चित्त पर बोझ नहीं डालना चाहिए।"—यह पढ़कर तो क्लान्त मन को अपूर्व विश्रान्ति का सुखद अनुभव हुआ। विनोबाजी का यह लेख मेरे अध्ययन-लोलुप और बुद्धिविलासी मानस को एक अमूल्य सीख दे गया है।

'ऐसा भगवान चांदी का सिक्का है' लेख में महादेव भाई देसाई की संस्मरणात्मक अभिव्यक्ति ने गांधीजी की जीवन-सिद्धांत के प्रति अटूट और अडिग श्रद्धा व समर्पण का साक्षात्कार कराया, तो वहीं शैलेन चटर्जी के लेख 'समाज की पाती पढ़ना लिखना' ने पत्रकारिता के प्रति गांधीजी के सद्विचारों को उद्घाटित किया। बकौल गांधीजी, समाचार पत्र का उद्देश्य लोक भावना को समझने और उसे अभिव्यक्त करने, सामान्य जन में कुछ निश्चित उदात्त भावों का सृजन करने तथा निर्भय होकर लोक में व्याप्त दोषों का बखान करने का होना चाहिए। वर्तमान समय में हमारी पत्रकारिता को गांधीजी द्वारा नियत किए गए उक्त तीनों कालजयी मानकों के आधार पर स्वमूल्यांकन करना चाहिए।

पुराना चावल स्तंभ के अंतर्गत मुहम्मद मंशा याद की कहानी 'डंगर बोली' बहुत मार्मिक, हृदयस्पर्शी लगी। लेखक ने मास खाने और जीव-हत्या की विद्रुपता अत्यंत संवेदनशीलता के साथ उकेरी है। कहानी दिल पर असर करती है।

'सुगांध का चर्मलेख' में काका वालुंजकर की जीवनी एक महान प्रेरक प्रसंग है। आखिर

कैसे-कैसे महान साहसी और सुधारक जीवट हमारे देश में पैदा हो चुके हैं! एक ब्राह्मण युवक द्वारा चर्मकार बनने की कथा, काका वालुंजकर जैसे विशाल-हृदय महामानव के सामने मेरे हृदय की क्षुद्रता और लघुता का भान करा गई।

‘जोड़ने में न टूटे लक्ष्मण रेखा’ टिप्पणी में नदियों को परस्पर जोड़ने की तुगलकी पहल का पुनर्विश्लेषण किए जाने की आवश्यकता को अत्यंत तार्किक रूप से सिद्ध किया है।

‘तकनीक का छोड़ा घोड़ा’ में दिलीप चिंचालकर ने कंप्यूटर-तकनीक के अंधेरे पहलू का अपराध उजागर किया है। सचमुच इंटरनेट, वेबसाइट, गूगल, याहू का प्रयोग सर्वथा निरापद नहीं है। हमें तकनीक रूपी घोड़े की इन दुलितियों से भी दो-चार होना ही पड़ेगा।

‘अब आजादी ढोते टांगिया’ में कुमार संभव श्रीवास्तव ने टांगिया समाज का अनसुना दर्द बहुत शिष्ट से बयां किया है। यह कैसी विडंबना है कि वनों से उन्हीं लोगों को बेदखल किया जा रहा है, जो लोग गहरी आत्मीयता के साथ पेड़ों से जुड़े हैं। कैसा अंधेर है कि पेड़ों से नितांत दूर चैम्बरों के सर्वथा अप्राकृतिक वातावरण में बैठे लोग अब इन पेड़ों पर अपना हक जता रहे हैं। गोरखपुर क्षेत्र के इन वन-क्षेत्रों के टांगिया समुदाय की व्यथा ने श्रद्धेय भवानी प्रसाद मिश्रजी के ‘सतपुड़ा के घने जंगल’ की याद दिला दी। गोंड का जीवन-चित्र खींचती उनकी पंक्तियां बरबस याद आने लगीं: “इन वनों के खूब भीतर। चार मुर्गे, चार तीतर। पाल कर निश्चिंत बैठे। विजन वन के बीच बैठे। झोपड़ी पर फूस डाले। गोंड तगड़े और काले। जब कि होली पास आती। सरसराती घास गाती। और महुए से लपकती। मत्त करती बास आती। गुंज उठते ढोल इनके। गीत इनके ढोल इनके। सतपुड़ा के घने जंगल। नींद में डूबे हुए से। ऊंघते अनमने जंगल।”

काश! हमारी सरकार और हम टांगिया लोगों द्वारा संवर्धित साल-वनों को भी इस

महाकवि की नजरों से देख पाते!

और, निःसंदेह, इस अंक की विशिष्ट उपलब्धि है— अपने महान पिता को अत्यन्त साधारण तरीके से याद करता हुआ संस्मरण ‘स्नेह भरी उंगली!’ यह संस्मरण मुझे बहुत भाया। महान कवि की सादगी को देखकर मन अगाध श्रद्धा से अभिभूत हो उठा। संयुक्त भरे-पूरे परिवार के ‘मन्ना’। ‘जेल से घर की याद’ जैसी भाव-प्रवण रचना लिखने वाले ‘मन्ना’। फिल्मों की चकाचौंध को वहीं दूर तजकर लौटते वक्त सिर्फ चमकीला चाकूभर घर लाते ‘मन्ना’। गीत फरोश में निज-मन की व्यथा बांचते ‘मन्ना’। स्वयं के जगप्रसिद्ध काव्य पाठ के लिए नहीं; अपितु बेटी के कथा पाठ को सुनने के लिए रेडियो सेट खरीद कर लाते मन्ना। .. कितनी-कितनी छवियां देखने को मिलीं हमें हमारे ‘मन्ना’ की इस संस्मरण में। पीठ कोरे कागज पर कविता लिखने की आदत दरअसल गांधीवादी मूल्यों में रचे पगे ‘मन्ना’ के अपरिग्रह व्रत की बानगी भर थी। मुंह तक लबालब भरा ‘मन्ना’ के विराट व्यक्तित्व का अमृत कलश भला छलकता कैसे; छलकती तो आखिर अधजल गगरी है। बी.ए. पास मन्ना का हिन्दी प्रेम तथा बच्चे को टाट के स्कूल में पढ़ाना उनके हृदय की सरलता, सादगी और महानता का मर्म बयां करते हैं।

उक्त संस्मरण में रंचमात्र भी पिता को महिमा मंडित नहीं किया है तथा आत्मा-श्लाघा नहीं की है। ‘मन्ना’ शब्द का आत्मीय संबोधन दिल को छू गया। अपने पिता का सर्वथा निरपेक्ष और निष्पक्ष मूल्यांकन दुर्लभ उदाहरण प्रस्तुत करता है। संस्मरण के अंत में एक जागरूक पुत्र ने अपने महान पिता के मन में आयी तनिक-सी कड़वाहट को भी बही खाते में दर्ज करते हुए उनके प्रति कोई रियायत नहीं छोड़ी है।

आपने अपने आदमकद पिता की स्नेह भरी उंगली गही है; जो निःसंदेह न सिर्फ आपको, बल्कि, अन्य असंख्य लोगों/काव्य-प्रेमियों को सदैव गिरने से

बचाएगी। श्रद्धेय मिश्रजी अपनी रचना 'घर की याद' में कहते हैं: "हे सजीले हरे सावन। हे कि मेरे पुण्य पावन। तुम बरस लो वे न बरसे। पांचवें को वे न तरसे!" लेकिन आखिर कोई ऐसे सीधे-सरल-सुहृदय महान सुकवि के लिए क्यों न तरसे? सुधियों के झरोखे से चलकर यादों के आंसू पलकों तक आकर फिर क्यों न ढलकें।

मुकेश कुमार 'निर्विकार'
म.नं. 2/29, डी.एम. कॉलोनी,
बुलंदशहर-203001 (उत्तर प्रदेश)



मई-जून का अंक। मन्नाजी के बारे में संस्मरणों की खुशबू से सराबोर लेख पढ़ा। तुमसे परिचय होने से पहले से ही मेरा उनसे परिचय था। मेरा आना-जाना भी उनके पास था। उनकी कविताएं, पुस्तकें मेरी प्रिय नोट बुक में चुन-चुन कर लिखी हुईं तब भी थीं, आज भी हैं। लगभग चालीस साल हो गए हैं। कविता बनाते थे दिल से, जब वे काव्य पाठ करते, तब उनका सारा शरीर, उस कविता से एकरूप हो जाता था।

तुमने उनका बहुत कीमती वाक्य लिखा है— "कोई भी पतन, गड़ढा इतना गहरा नहीं होता, जिसमें गिरे हुए को स्नेह की उंगली से उठाया न जा सके।" उसी धुन में ऐसा भी कह सकते हैं और अंदरूनी समझ हमें दिखाती है कि कोई भी स्नेह की उंगली इतनी कमजोर नहीं होती कि भारी गड़ढे से, गहराई से किसी को उठा न सके!

मैंने गांवों में काम करने का रास्ता लिया है। बड़ी-बड़ी समस्याएं हैं, मेरा काम उनके सम्मुख बस छोटे-छोटे अनुकूल हल खोजने का और प्रसारित करने का है। ये सब छोटी बूंदें-भर हैं।

कुछ असें से, गुलामी की खेती के बजाय स्वराज वाली खेती के रास्ते बनाना और गांव वालों के साथ उन्हें बांटने का काम कर रहा हूँ। हम बीज-स्वराज, जल-स्वराज और ऐसे कई पहलुओं से पुष्ट होने वाले कृषि स्वराज की ओर बढ़ें— ऐसा

प्रयास है। पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक विज्ञान दोनों को परख कर लेते हुए तीसरी शक्ति का रास्ता यह है। इसमें निरंजना का साथ और योगदान महत्वपूर्ण है।

अशोक बंग,
पोस्ट- गोपुरी,
वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)



मई-जून अंक में भवानी बाबू की जन्मशती वर्ष के निमित्त लिखा गया संस्मरण 'स्नेह भरी उंगली' पढ़ कर बहुत अच्छा लगा। लेख की अंतिम कुछ पंक्तियाँ— वे एक ठीक आदमकद पिता थे, उनकी स्नेह भरी उंगली हमें आज भी गिरने से बचाती है— बहुत ही मार्मिक है।

वैसे किसी भी व्यक्तित्व की, मनुष्यता की पहचान एक जटिल और जीवंत संपूर्णता है। यह इतनी सरल वस्तु नहीं है कि कुछ शब्दों और प्रतीकों से व्यंजित हो सके।

शेष अन्य लेख भी खूब पठनीय और मननीय हैं। दिलीप चिंचालकर के लेख 'तकनीक का छोड़ा घोड़ा' में जो जानकारी हमें मिलती है, उसके बारे में तो यही कहा जा सकता है कि यदि समय रहते हमने इस ओर ध्यान नहीं दिया तो पटकनी खाने से हम बच न सकेंगे।

सुरेन्द्र तिवारी, वरिष्ठ अधिवक्ता,
126, महाजनी वार्ड, नरसिंहपुर (मध्यप्रदेश)



लापोडिया ग्राम से लक्ष्मण सिंह की जय श्री जी मालूम होवे। आगे समाचार यह है कि इस बार मई-जून की पत्रिका में 'अज्ञान भी ज्ञान है' को पढ़ कर मुझे खूब अचंभा हुआ। सचमुच हम सब एक के बाद दूसरी बातें, ज्ञान की बातें सीखते चले जाते हैं। इस तरह हमारा चित्त इतने सारे ज्ञान का बोझ ढोता है तो चिंतन-शक्ति क्षीण हो जाती है। ज्ञान का मतलब है कि जितना अपने काम के लिए जरूरी है उतना ही लेना चाहिए।

मैंने यह अंक पूरा पढ़ा है और कई वाक्यों के नीचे निशान लगाए हैं। ताकि कम से कम उन वाक्यों को सब लोग पढ़ सकें। दुनिया में हजारों प्रकार के शास्त्र हैं। तरह-तरह के कोर्स हैं। एम.ए., डबल एम.ए., एम.बी.ए. सब करे ही जाते हैं। पर हम तब भी कुछ सार्थक करते हुए कहां दिख पाते हैं। इस सब चिंता में शरीर से व दिमाग से कमजोर होकर कुछ काम नहीं कर पाते हैं। पढ़ाई अपने काम की ही करनी चाहिए जिसमें जीवन यापन करते हुए देश सेवा के लिए भी हम कुछ कर सकें। गांधी शांति प्रतिष्ठान की यह पत्रिका हमें यही मार्ग दिखाती है।

लक्ष्मण सिंह,
ग्राम- लापोडिया, तहसील दूदू,
जिला- जयपुर- 303008 (राजस्थान)



मई-जून अंक। तमाम सामग्री ऐसी है कि छोड़ने का मन ही नहीं होता। कहां-कहां से कितना श्रम करके यह सब एकत्र हो पाती है— अचंभा होता है।

भवानी भाई पर लिखा लेख दुर्लभ जानकारी से भरा है। उनसे कई बार मिलने का सौभाग्य मिला था मुंबई में। श्रीमती मालिनी बिसेन के यहां होने वाली साहित्यिक गोष्ठियों में उनकी भागीदारी खूब याद है। गीत फरोश कविता उनके मुख से सबसे पहले यहीं सुनी थी। फिर धर्मवीर भारतीजी के घर भी उनसे भेंट हुई थी— किन्तु इन सबसे बिलकुल अलग है उन पर लिखा 'स्नेह की उंगली' वाला लेख। एकदम पारिवारिक एवं आत्मीय।

मुहम्मद मंशा याद की कहानी बहुत मार्मिक है और इसी तरह अनन्य है सुगंध का चर्मलेख, इंटरनेट के खतरों से आगाह करता दिलीप चिंचालकर का लेख, टांगिया समाज के विषय पर उठते ढेर सारे सवाल, गांधीजी के विभिन्न पक्षों पर महादेव भाई और शैलेन

चटर्जी द्वारा दी गई कई नई जानकारियां और सबसे अनोखा तो था विनोबा का लेख 'अज्ञान भी ज्ञान है'।

गांधी-मार्ग अपने छोटे से कलेवर में इतनी विपुल जानकारियां देने में समर्थ है— बहुत ही हर्ष होता है।

मनमोहन सरल,
76, पत्रकार, बांद्रा पूर्व, मुंबई-400051



गांधी-मार्ग का ताजा अंक। 'स्नेह भरी उंगली' पढ़कर आखें गीली हो गई। बगैर किसी बड़ाई-बड़प्पन के मन्ना की कितनी सादी तस्वीर प्रस्तुत की है। मैं तो कहूंगा, वे अद्भुत थे। उनके मेरे नाम लिखे कुछ पुराने पत्र पढ़कर अभी भी लगता है उनके जैसे आदमकद इंसान चंद ही होते हैं।

अनूप मिश्र,
एस.डी.ओ. पुलिस, पो. महिदपुर,
उज्जैन (मध्यप्रदेश)



मुहम्मद मंशा याद की कहानी 'डंगर बोली' दिल को छू गई। सोचा क्यों न अपने दृष्टिबाधित छात्रों और प्रशिक्षार्थियों तथा परिचितों तक इस कहानी को पहुंचाया जाए। डंगर बोली के साथ-साथ संस्मरण 'स्नेह भरी उंगली' ब्रेल लिपि में तैयार कर उनकी कुछ प्रतियां वितरित की हैं। सुंदर प्रतिक्रियाएं मिल रही हैं। आगे भी लगातार कुछ ऐसा करना चाहते हैं।

गांधी-मार्ग के कुछ पुराने अंकों से 'सोने की पेंसिल का टुकड़ा' तथा राधा भट्ट जी का लेख 'सबने खा लिया' भी तैयार ही है। मगर ब्रेल प्रिंटर कुछ आनाकानी कर रहा है। जल्द ही मना लेंगे।

कैलाश चंद्र पाण्डे,
ब्लाइंड रिलीफ असोसिएशन,
लाल बहादुर शास्त्री मार्ग,
नई दिल्ली-110003





श्रीमती सोनिया गाँधी
अध्यक्ष, सं.प्र.ग.

डॉ. मनमोहन सिंह
प्रधानमंत्री

कन्या भ्रूण हत्या है महापाप मिटकर रहेंगे यह अभिशाप

- “इंदिरा गांधी महिला शक्ति पुरस्कार” “कल्पना चावला शौर्य पुरस्कार” व “बहन शन्नो देवी पंचायती राज पुरस्कार” देने की योजना शुरू की गई है।
- “इंदिरा गांधी प्रियदर्शनी विवाह शगुन योजना” के तहत गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले अनुसूचित जाति के परिवारों व सभी वर्गों की विधवाओं को स्वयं के पुनर्विवाह और उनकी बेटी की शादी के अवसर पर दी जाने वाली शगुन राशि 26 जनवरी, 2010 से 15,000 रुपये से बढ़ाकर 31,000 रुपये तथा 5100 रुपये से बढ़ाकर 11000 रुपये की गई है।
- शिक्षकों की भर्ती में महिलाओं को 33 प्रतिशत आरक्षण।

प्रदेश में महिलाओं के विकास के लिए राज्य सरकार कृतसंकल्प है। महिलाओं व पुरुषों के लिंगानुपात को सही करने के लिए हरियाणा सरकार ने अहम कदम उठाए हैं। सरकार ने बालिकाओं के हित में जो प्रोत्साहन योजनाएं शुरू की हैं, उनसे बेटियों के मान-सम्मान में बढ़ोतरी हुई है तथा सामाजिक सोच में भी सकारात्मक बदलाव आया है।

भूपेन्द्र सिंह हुड्डा, मुख्यमंत्री, हरियाणा

IPRDH/SAMVAD

बेटी को आने दो



मैं बहुत चाहती हूँ कि लड़कियाँ बहुत ही जल्दी वाले लोगों को मिलती हैं और उनके घरों में लड़की पैदा हो उनका खुशियों का गढ़ बन जाए, लेकिन करना चाहिए। मैं तो कल्पना करती हूँ कि लड़की पैदा होती है तो लड़की खुद से खुद आती है।

रानी मुखर्जी



मैं मध्य प्रदेश सरकार के बेटी कवच नाम अभियान को सबसे अच्छी करती हूँ और अब लोगों ने भी अपील करनी शुरू की है। अब लोग भी अपने बच्चे हुए अभियान पर और आगे बढ़ाएँ क्योंकि बेटी ही तो बल है।

मेघना मलिक

जो रचती है
संसार
लेने दें उसे भी
आकार



लड़कियों के हक में मध्य प्रदेश

रजिस्टर्ड नं 4545/57

प्रकृति ने नीली व्हेल को इस दुनिया का सबसे बड़ा प्राणी बनाया है। कोई चालीस हाथियों जितना वजन और लगभग सौ फुट की लंबाई। जितना बड़ा आकार, उतना ही बड़ा कारण रहा है प्रकृति के सामने। हर रोज व्हेल के ढेर सारे गोबर से समुद्री जीवों को अपना जीवन जीने के लिए बेशकीमती लोहा मिलता है। और इस लोहे की समुद्र में बड़ी कमी रहती है। हर रोज व्हेल अपने गोबर से लोहा तो देती ही है, वह इसे सैकड़ों मील का चक्कर लगाकर विशाल समुद्र में न जाने कहां-कहां पहुंचाती रहती है। यानी व्हेल भिलाई का चलता-फिरता कारखाना है। पर मनुष्य के मांसाहार ने जैसे जमीन से बड़े वन्य पशु मिटा दिए, वैसे ही अब समुद्र से व्हेल की फुहार भी ओझल हो चली है। यह दुर्घटना हमारे शाकाहार से शायद रुक जाए। लेकिन शाकाहारी भोजन पकाएगा कौन?

